प्रकाशक—
भारती-भण्डार
(पुस्तक-प्रकाशक और विक्रेता)
बनारस सिटी

द्वितीय संस्करण
मूल्य २॥)

मुद्रक—
कृष्णाराम मेहता
लीडर प्रेस, इलाहाबाद

निवेदन

श्री जयशंकर 'प्रसाद' के नाटकों ने हिंदी-साहित्य के एक अंग की बड़ी ही सुन्दर पूर्त्ति की है। उनकी कल्पना कितनी मार्मिक और उच्च कोटि की है—इसके विषय में कुछ कहना वाचालता मात्र होगी।

उनके नाटक हमारे स्थायी साहित्य के भंडार को अमूल्य रत्न देने के सिवा एक और महत्व कार्य्य कर रहे हैं, वह है हमारे इतिहास का उद्धार। महाभारतयुग के 'नागयज्ञ' से लेकर हर्षकालीन 'राज्यश्री' प्रभृति नाटकों से वे हमारे लुप्त इतिहास का पुनर्निर्माण कर रहे हैं। ऐसा करने में चाहे बहुत-सी बातें कल्पना-प्रसूत हों, किन्तु 'प्रसाद' जी की ये कल्पनाएँ ऐसी मार्मिक और अपने उद्दिष्ट समय के अनुकूल हैं कि वे उस सत्य की पूर्त्ति कर देती है जो विस्मृति के तिमिर में विलीन हो गया है।

किसी काल के इतिहास का जो गूदा है—अर्थात् महापुरुषों की वे करनियाँ जिनके कारण उस काल के इतिहास ने एक विशिष्ट रूप पाया है—उसे यदि कोई लेखक अपने पाठकों के सामने प्रत्यक्ष रख सके तो उसने झूठ नहीं कहा, वह सत्य ही है। चाहे वास्तविक हो वा कल्पित—

भगवान कृष्ण ने गीता के रूप में जो अमृत हमें दिया है उसका चाहे सौ पुराण सौ रूप में वर्णन करें, पर यदि उन रंगीन मटकों में से हम उस अमृत का पान कर सकते हैं तो वे सब-के-सब उसके लिये समुचित भाजन ही ठहरे—व्यर्थ के कृत्रिम आडम्बर नहीं।

गुप्त-काल (२७५ ई०—५४० ई० तक) अतीत भारत के स्वर्ण का मध्यान्ह है। उस समय आर्य्य-साम्राज्य मध्य-एशिया से जावा-सुमात्रा तक फैला हुआ था। समस्त एशिया पर हमारी संस्कृति का झंडा फहरा रहा था। इसी गुप्तवंश का सबसे उज्ज्वल नक्षत्र था—स्कंदगुप्त। उसके सिंहासन पर बैठने के पहले ही साम्राज्य में भीतरी षड्यन्त्र उठ रहे हुए थे। साथ ही आक्रमणकारी हूणों का आतंक देश में छा गया था और गुप्त-सिंहासन डाँवाडोल हो चला था। ऐसी दुरवस्था में लाखों विपत्तियाँ सहते हुए भी जिस लोकोत्तर उत्साह और पराक्रम से स्कंदगुप्त ने इस स्थिति से आर्य्य साम्राज्य की रक्षा की थी—पढ़कर नसों में बिजली दौड़ जाती है। अन्त में साम्राज्य का एक-छत्र चक्रवर्तित्व मिलने पर भी उसे अपने वैमात्र एवं विरोधी भाई पुरगुप्त के लिये त्याग देना, तथा, स्वयं आजन्म कौमार जीवन व्यतीत करने की प्रतिज्ञा करना—ऐसे प्रसंग हैं जो उसके महान चरित पर मुग्ध ही नहीं कर देते, बल्कि देर तक सहृदयों को करुणासागर में निमग्न कर देते हैं।

कई कारणों से इस नाटक के निकाल देने में कुछ हफ़्तों की देर हो गई। किन्तु उतनी ही देरी साहित्य-प्रेमियों को—जो इसके स्वागत के लिये लालायित हो रहे थे—असह्य हो उठी है। उनके तगादे-पर-तगादे आ रहे हैं। अतएव हम उनसे इस देर के लिये क्षमाप्रार्थी हैं।

श्रावणी पूर्णिमा, '८५

—प्रकाशक

पुरुष-पात्र

स्कंदगुप्त—	युवराज (विक्रमादित्य)
कुमारगुप्त—	मगध का सम्राट
गोविन्दगुप्त—	कुमारगुप्त का भाई
पर्णदत्त—	मगध का महानायक
चक्रपालित—	पर्णदत्त का पुत्र
बन्धुवर्म्मा—	मालव का राजा
भीमवर्म्मा—	उसका भाई
मातृगुप्त—	(काव्यकर्त्ता कालिदास)
प्रपंचबुद्धि—	बौद्ध कापालिक
शर्वनाग—	अन्तर्वेद का विपयपति
कुमारदास (धातुसेन)—	सिंहल का राजकुमार
पुरगुप्त—	कुमारगुप्त का छोटा पुत्र
भटार्क—	नवीन महाबलाधिकृत
पृथ्वीसेन—	मंत्री कुमारामात्य
खिंगिल—	हूण आक्रमणकारी
मुद्गल—	विदूषक
प्रख्यातकीर्त्ति—	लंकाराज-कुल का श्रमण, महाबोधिविहार-स्थविर

महाप्रतिहार, महादंडनायक, नन्दी-ग्राम का दंडनायक, प्रहरी, सैनिक इत्यादि

स्त्री-पात्र

देवकी—	कुमारगुप्त की बड़ी रानी,—स्कंद की माता
अनन्तदेवी—	कुमारगुप्त की छोटी रानी;—पुरगुप्त की माता
जयमाला—	बंधुवर्मा की स्त्री,–मालव की रानी
देवसेना—	बंधुवर्मा की बहिन
विजया—	मालव के धनकुबेर की कन्या
कमला—	भटार्क की जननी
रामा—	शर्वनाग की स्त्री
मालिनी—	मातृगुप्त की प्रणयिनी

सखी, दासी इत्यादि

स्कंदगुप्त

प्रथम अंक

[उज्जयिनी में गुप्त-साम्राज्य का स्कंधावार]

स्कंदगुप्त—(टहलते हुए) अधिकार-सुख कितना मादक और सार-हीन है! अपने को नियामक और कर्त्ता समझने की बलवती स्पृहा उससे बेगार कराती है! उत्सवों में परिचारक और अस्त्रों में ढाल से भी अधिकार-लोलुप मनुष्य क्या अच्छे हैं? (ठहरकर) ऊँह! जो कुछ हो, हम तो साम्राज्य के एक सैनिक हैं।

पर्णदत्त—(प्रवेश करके) युवराज की जय हो!

स्कंदगुप्त—आर्य पर्णदत्त को अभिवादन करता हूँ। सेनापति की क्या आज्ञा है?

पर्णदत्त—मेरी आज्ञा! युवराज! आप सम्राट के प्रतिनिधि हैं; मैं तो आज्ञाकारी सेवक हूँ। इस वृद्ध ने गरुड़ध्वज लेकर आर्य चन्द्रगुप्त की सेना का संचालन किया है। अब भी गुप्त-साम्राज्य की नासोर-सेना में—उसी गरुड़ध्वज की छाया में पवित्र क्षात्रधर्म्म का पालन करते हुए उसीके मान के लिये मर मिटूँ—यही कामना है। गुप्तकुल-भूषण! आशीर्वाद दीजिये, वृद्ध पर्णदत्त की माता का स्तन्य लज्जित न हो।

स्कंदगुप्त—आर्य! आपकी वीरता की लेखमाला शिप्रा और सिन्धु की लोल लहरियों से लिखी जाती है, शत्रु भी उस वीरता की सराहना करते हुए सुने जाते हैं। तब भी सन्देह!

पर्णदत्त—संदेह दो बातों से है युवराज!

स्कंदगुप्त—वे कौन-सी हैं ?

पर्णदत्त—अपने अधिकारों के प्रति आपकी उदासीनता और अयोध्या मे नित्य नये परिवर्तन।

स्कंदगुप्त—क्या अयोध्या का कोई नया समाचार है ?

पर्णदत्त—संभवतः सम्राट तो कुसुमपुर चले गये हैं, और कुमारामात्य महाबलाधिकृत वीरसेन ने स्वर्ग की ओर प्रस्थान किया।

स्कंदगुप्त—क्या ! महाबलाधिकृत अब नहीं हैं ? शोक !

पर्णदत्त—अनेक समरों के विजेता, महामानी, गुप्त-साम्राज्य के महाबलाधिकृत अब इस लोक मे नहीं हैं ! इधर प्रौढ़ सम्राट के विलास की मात्रा बढ़ गई है !

स्कंदगुप्त—चिंता क्या ! आर्य ! अभी तो आप हैं, तब भी मैं ही सब विचारों का भार वहन करूँ, अधिकार का उपयोग करूँ ! वह भी किस लिये ?

पर्णदत्त—किस लिये ? त्रस्त प्रजा की रक्षा के लिये, सतीत्व के सम्मान के लिये, देवता, ब्राह्मण और गौ की मर्य्यादा में विश्वास के लिये, आतंक से प्रकृति को आश्वासन देने के लिये आपको अपने अधिकारों का उपयोग करना होगा। युवराज ! इसीलिये मैंने कहा था कि आप अपने अधिकारों के प्रति उदासीन हैं जिसकी मुझे बड़ी चिन्ता है। गुप्त-साम्राज्य के भावी शासक को अपने उत्तरदायित्व का ध्यान नहीं !

स्कंदकुप्त—सेनापते ! प्रकृतिस्थ होइये ! परम भट्टारक महाराजाधिराज अश्वमेध-पराक्रम श्रीकुमारगुप्त महेन्द्रादित्य के सुशासित राज्य की सुपालित प्रजा को डरने का कारण नहीं है।

गुप्तसेना की मर्य्यादा की रक्षा के लिये पर्णदत्त-सदृश महावीर अभी प्रस्तुत हैं।

पर्णदत्त—राष्ट्रनीति, दार्शनिकता और कल्पना का लोक नहीं है। इस कठोर प्रत्यक्षवाद की समस्या बड़ी कठिन होती है। गुप्त-साम्राज्य की उत्तरोत्तर वृद्धि के साथ उसका दायित्व भी बढ़ गया है; पर उस बोझ को उठाने के लिये गुप्तकुल के शासक प्रस्तुत नहीं, क्योंकि साम्राज्य-लक्ष्मी को वे अब अनायास और अवश्य अपनी शरण आनेवाली वस्तु समझने लगे हैं।

स्कंदगुप्त—आर्य्य ! इतना व्यङ्ग न कीजिये, इसके कुछ प्रमाण भी है ?

पर्णदत्त—प्रमाण ! प्रमाण अभी खोजना है ? आँधी आने के पहले आकाश जिस तरह स्तम्भित हो रहता है, बिजली गिरने से पूर्व जिस प्रकार नील कादम्बिनी का मनोहर आवरण महाशून्य पर चढ़ जाता है, क्या वैसी ही दशा गुप्त-साम्राज्य की नहीं है ?

स्कंदगुप्त—क्या पुष्यमित्रों के युद्ध को देखकर वृद्ध सेनापति चकित हो रहे है ? (हँसता है)

पर्णदत्त—युवराज ? व्यंग न कीजिये। केवल पुष्यमित्रों के युद्ध से ही इतिश्री न समझिये, म्लेच्छों के भयानक आक्रमण के लिये भी प्रस्तुत रहना चाहिये। चरों ने आज ही कहा है कि कपिशा को श्वेत हूणों ने पदाक्रान्त कर लिया ! तिसपर भी युवराज पूछते हैं कि 'अधिकारों का उपयोग किस लिये' ! यही 'किस लिये' प्रत्यक्ष प्रमाण है कि गुप्तकुल के शासक इस साम्राज्य को 'गले-पड़ी' वस्तु समझने लगे हैं !

(चक्रपालित का प्रवेश)

चक्रपालित—(देखकर) अरे, युवराज भी यहीं हैं ! युवराज की जय हो !

स्कंदगुप्त—आओ चक्र ! आर्य्य पर्णदत्त ने मुझे घबरा दिया है।

चक्र०—पिताजी ! प्रणाम। कैसी बात है ?

पर्ण०—कल्याण हो, आयुष्मन् ! तुम्हारे युवराज अपने अधिकारों से उदासीन हैं। वे पूछते हैं 'अधिकार किस लिये।'

चक्र०—तात ! इस 'किस लिये' का अर्थ मैं समझता हूँ।

पर्ण०—क्या ?

चक्र०—गुप्तकुल का अव्यवस्थित उत्तराधिकार-नियम !

स्कन्दगुप्त—चक्र, सावधान ! तुम्हारे इस अनुमान का कुछ आधार भी है ?

चक्र०—युवराज ! यह अनुमान नहीं है, यह प्रत्यक्ष-सिद्ध है।

पर्ण०—(गंभीरता से) चक्र ! यदि यह बात हो भी, तब भी तुमको ध्यान रखना चाहिये कि हम लोग साम्राज्य के सेवक हैं। असावधान बालक ! अपनी चंचलता को विष-वृक्ष का बीज न बना देना।

स्कन्दगुप्त—आर्य्य पर्णदत्त ! क्षमा कीजिये। हृदय की बातों को राजनीतिक भाषा में व्यक्त करना चक्र नहीं जानता।

पर्ण०—ठीक है, किन्तु उसे इतनी शीघ्रता नहीं करनी चाहिये। (देखकर) चर आ रहा है, कोई युद्ध का नया समाचार है क्या ?

(चर का प्रवेश)

'युवराज की जय हो !'

पर्ण०—क्या समाचार है ?

चर—अब की बार पुष्यमित्रों का अंतिम प्रयत्न है। वे अपनी समस्त शक्ति संकलित करके बढ़ रहे हैं ! नासीर-सेना के नायक ने सहायता माँगी है। दशपुर से भी दूत आया है।

स्कंद०—अच्छा, जाओ, उसे भेज दो।

(चर जाता है, दशपुर के दूत का प्रवेश)

'युवराज भट्टारक की जय हो !'

स्कंद०—मालवपति सकुशल है ?

दूत—कुशल आपके हाथ है। महाराज विश्ववर्मा का शरीरांत हो गया है ! नवीन नरेश महाराज बंधुवर्मा ने साभिवादन श्रीचरणों में संदेश भेजा है।

स्कंद०—खेद ! ऐसे समय में, जब कि हम लोगों को मालवपति से सहायता की आशा थी, वह स्वयं कौटुम्बिक आपत्तियों में फँस गये हैं !

दूत—इतना ही नहीं, शक-राष्ट्रमंडल चंचल हो रहा है, नवागत म्लेच्छवाहिनी से सौराष्ट्र भी पदाक्रांत हो चुका है, इसी कारण पश्चिमी मालव भी अब सुरक्षित न रहा।

(स्कंदगुप्त पर्णदत्त की ओर देखते हैं)

पर्ण०—वलभी का क्या समाचार है ?

दूत—वलभी का पतन अभी रुका है। किन्तु बर्बर हूणों से उसका बचना कठिन है। मालव की रक्षा के लिये महाराज बन्धु-

वर्म्मा ने सहायता माँगी है। दशपुर की समस्त सेना सीमा पर जा चुकी है।

स्कंद०—मालव और शक युद्ध मे जो संधि गुप्त-साम्राज्य और मालव-राष्ट्र में हुई है, उसके अनुसार मालव की रक्षा गुप्त-सेना का कर्त्तव्य है। महाराज विश्ववर्म्मा के समय से ही सम्राट कुमारगुप्त उनके संरक्षक है। परन्तु दूत! बड़ी कठिन समस्या है।

दूत—विषम व्यवस्था होने पर भी युवराज! साम्राज्य ने संरक्षकता का भार लिया है।

पर्ण०—दूत! क्या तुम्हे विदित नही है कि पुष्यमित्रों से हमारा युद्ध चल रहा है?

दूत—तब भी मालव ने कुछ समझकर, किसी आशा पर हो, अपनी स्वतंत्रता को सीमित कर लिया था।

स्कद०—दूत! केवल सन्धि-नियम ही से हम लोग बाध्य नहीं हैं; किंतु शरणागत-रक्षा भी क्षत्रिय का धर्म्म है। तुम विश्राम करो। सेनापति पर्णदत्त समस्त सेना लेकर पुष्यमित्रों की गति रोकेंगे। अकेला स्कंदगुप्त मालव की रक्षा करने के लिये सन्नद्ध है। जाओ, निर्भय निद्रा का सुख लो। स्कंदगुप्त के जीते-जी मालव का कुछ न बिगड़ सकेगा।

दूत—धन्य युवराज! आर्य्य-साम्राज्य के भावी शासक के उपयुक्त ही यह बात है। (प्रणाम करके जाता है)

पर्ण०—युवराज! आज यह वृद्ध, हृदय से प्रसन्न हुआ। और गुप्त-साम्राज्य की लक्ष्मी भी प्रसन्न होगी।

चक्र०—तात! पुष्यमित्र-युद्ध का अन्त तो समीप है। विजय

निश्चित है। किसी दूसरे सैनिक को भेजिये। मुझे युवराज के साथ जाने की अनुमति हो।

स्कंद०—नहीं चक्र, तुम विजयी होकर मुझसे मालव में मिलो। ध्यान रखना होगा कि राजधानी से अभी कोई सहायता नहीं मिलती। हम लोगों को इस आसन्न विपद में अपना ही भरोसा है।

पर्ण०—कुछ चिंता नहीं युवराज! भगवान सब मंगल करेंगे। चलिये, विश्राम करें।

[कुसुमपुर के राज-मंदिर में सम्राट कुमारगुप्त और उनके पारिषद]

धातुसेन—परम भट्टारक! आपने भी स्वयं इतने विकट युद्ध किये हैं! मैंने तो समझा था, राजसिंहासन पर बैठे-बैठे राजदंड हिला देने से ही इतना बड़ा गुप्त-साम्राज्य स्थापित हो गया था; परंतु—

कुमारगुप्त—(हँसते हुए) तुम्हारी लंका में अब राक्षस नहीं रहते? क्यों धातुसेन!

धातुसेन—राक्षस यदि कोई था तो विभीषण, और बन्दरों में भी एक सुग्रीव हो गया था। दक्षिणापथ आज भी उनकी करनी का फल भोग रहा है। परंतु हाँ, एक आश्चर्य्य की बात है कि महामान्य परमेश्वर परम भट्टारक को भी युद्ध करना पड़ा! रामचंद्र ने तो, सुना था, जब वे युवराज भी न थे तभी, युद्ध किया था। सम्राट होने पर भी युद्ध!

कुमार०—युद्ध तो करना ही पड़ता है। अपनी सत्ता बना रखने के लिये यह आवश्यक है।

धातु०—अच्छा तो स्वर्गीय आर्य्य समुद्रगुप्त ने देवपुत्रों तक का राज्य-विजय किया था, सो उनके लिये परम आवश्यक था? क्या पाटलीपुत्र के समीप ही वह राष्ट्र था?

कुमार०—तुम भी बालि की सेना में से कोई बचे हुए हो!

धातु०—परम भट्टारक की जय हो! बालि की सेना न थी, और वह युद्ध न था। जब उसमें लड्डू खानेवाले सुग्रीव निकल पड़े, तब फिर—

कुमार०—क्यों?

धातु०—उनकी बड़ी सुन्दर ग्रीवा में लड्डू अत्यंत सुशोभित होता था, और सबसे बड़ी बात तो थी बालि के लिये—उनकी तारा का मंत्रित्व। सुना है सम्राट! स्त्री की मंत्रणा बड़ी अनुकूल और उपयोगी होती है, इसीलिये उन्हें राज्य की झंझटों से शीघ्र छुट्टी मिल गई। परम भट्टारक की दुहाई! एक स्त्री को मंत्री आप भी बना लें, बड़े-बड़े दाढ़ी मूँछवाले मंत्रियों के बदले उसकी एकांत मंत्रणा कल्याणकारिणी होगी।

कुमार०—(हँसते हुए) लेकिन पृथ्वीसेन तो मानते ही नहीं।

धातु०— तब मेरी सम्मति से वे ही कुछ दिनों के लिये स्त्री हो जायँ; क्यों कुमारामात्यजी ?

पृथ्वीसेन—पर तुम तो स्त्री नहीं हो जो मैं तुम्हारी सम्मति मान लूँ ?

कुमार—(हँसता हुआ) हाँ, तो आर्य्य समुद्रगुप्त को विवश होकर उन विद्रोही विदेशियों का दमन करना पड़ा, क्योंकि मौर्य्य साम्राज्य के समय से ही सिंधु के उस पार का देश भी भारत-साम्राज्य के अन्तर्गत था। जगद्विजेता सिकन्दर के सेनापति सिल्यूकस से उस प्रान्त को मौर्य्य सम्राट चंद्रगुप्त ने लिया था।

धातु० —फिर तो लड़कर ले लेने की एक परम्परा-सी लग जाती है। उनसे उन्होंने, उन्होंने उनसे, ऐसे हो लेते चले आये हैं। उसी प्रकार आर्य्य!......

कुमार०—ऊँह! तुम समझते नहीं। मनु ने इसकी व्यवस्था दी है।

धातु०—नहीं धर्म्मावतार! समझ में तो इतनी बात आ गई

कि लड़कर ले लेना ही एक प्रधान स्वत्व है। संसार में इसीका बोलबाला है।

भटार्क—नहीं तो क्या रोने से, भीख माँगने से कुछ अधिकार मिलता है? जिसके हाथों में बल नहीं, उसका अधिकार ही कैसा? और यदि माँगकर मिल भी जाय, तो शान्ति की रक्षा कौन करेगा?

मुद्गल—(प्रवेश करके) रक्षा पेट कर लेगा, कोई दे भी तो। अक्षय तूणीर, अक्षय कवच सब लोगों ने सुना होगा; परन्तु इस अक्षय मंजूषा का हाल मेरे सिवा कोई नहीं जानता! इसके भीतर कुछ रखकर देखो, मैं कैसी शान्ति से बैठा रहता हूँ!

(पद्मासन से बैठ जाता है)

पृथ्वीसेन—परम भट्टारक की जय हो! मुझे कुछ निवेदन करना है—यदि आज्ञा हो तो।

कुमार०—हाँ, हाँ, कहिये।

पृथ्वीसेन—शिप्रा के इस पार साम्राज्य का स्कंधावार स्थापित है। मालवेश का दूत भी आ गया है कि 'हम ससैन्य युवराज के सहायतार्थ प्रस्तुत हैं।' महानायक पर्णदत्त ने भी अनुकूल समाचार भेजा है।

कुमार०—मालव का इस अभियान से कैसा भाव है, कुछ पता चला? क्योंकि यह युद्ध तो जान-बूझकर छेड़ा गया है।

पृथ्वी०—अपने मुख से मालवेश ने दूत से यहाँ तक कहा था कि युवराज को कष्ट देने की क्या आवश्यकता थी, आज्ञा पाने ही से मैं स्वयं इसे ठीक कर लेता।

कुमार०—महासान्धि-विग्रहिक ! साधु ! यह वंश-परंपरागत तुम्हारी ही विद्या है।

पृथ्वीसेन—सम्राट के श्रीचरणों का प्रताप है। सौराष्ट्र से भी नवीन समाचार मिलनेवाला है। इसीलिये युवराज को वहाँ भेजने का मेरा अनुरोध था।

भटार्क—सौराष्ट्र की गति-विधि देखने के लिये एक रणदक्ष सेनापति की आवश्यकता है। वहाँ शक-राष्ट्र बड़ा चञ्चल अथच भयानक है।

पृथ्वीसेन—(गूढ़ दृष्टि से देखते हुए) महाबलाधिकृत ! आवश्यकता होने पर आपको वहाँ जाना ही होगा, उत्कंठा की आवश्यकता नहीं।

भटार्क—नहीं, मैं तो.. ... ..

कुमार०—महाबलाधिकृत ! तुम्हारी स्मरणीय सेवा स्वीकृत होगी। अभी आवश्यकता नहीं।

धातुसेन—(हाथ जोड़कर) यदि दक्षिणापथ पर आक्रमण का आयोजन हो तो मुझे आज्ञा मिले। मेरा घर पास है, मैं जा कर स्वच्छंदता-पूर्वक लेट रहूँगा, सेना को भी कष्ट न होने पावेगा।

(सब हँसते है)

मुद्गल—जय हो देव ! पाकशाला पर चढ़ाई करनी हो तो मुझे आज्ञा मिले। मैं अभी उसका सर्वस्वांत कर डालूँ।

(फिर सब हँसते हैं। गभीर भाव से अभिवादन करते हुए—एक ओर पृथ्वीसेन और दूसरी ओर भटार्क का प्रस्थान।)

कुमार०—मुद्गल ! तुम्हारा कुछ... .. ..

मुद्गल—महादेवी ने प्रार्थना की है कि युवराज भट्टारक की कल्याण-कामना के लिये चक्रपाणि भगवान की पूजा की सब सामग्री प्रस्तुत है। आर्य्यपुत्र कब चलेंगे?

कुमार०—(मुँह बनाकर) आज तो कुछ पारसीक नर्त्तकियाँ आनेवाली हैं, आपानक भी है! महादेवी से कह देना, असंतुष्ट न हों, कल चलूँगा। समझा न मुद्गल?

मुद्गल—(खड़ा होकर) परमेश्वर परम भट्टारक की जय हो!

(जाता है)

धातुसेन—वह चाणक्य कुछ भाँग पीता था। उसने लिखा है कि राजपुत्र भेड़िये हैं, इनसे पिता को सदैव सावधान रहना चाहिये।

कुमार०—यह राष्ट्र-नीति है।

(अनन्तदेवी का चुपचाप प्रवेश)

धातु०—भूल गया। उसके बदले उस ब्राह्मण को लिखना था कि राजा लोग ब्याह ही न करें, क्यों भेड़ियों-सी संतान उत्पन्न हो?

अनन्तदेवी—(सामने आकर) आर्य्यपुत्र की जय हो!

(धातुसेन भयभीत होने का-सा मुँह बनाकर चुप हो जाता है)

कुमार०—आओ प्रिये! तुम्हें खोज ही रहा था।

अनन्त०—नर्त्तकियों को बुलवाती आ रही हूँ। कुमारामात्य आदि थे, मन्त्रणा में बाधा समझकर, जान-बूझकर देर लगाई। आपको तो देखती हूँ कि अवकाश ही नहीं।

(धातुसेन की ओर क्रुद्ध होकर देखती है)

कुमार०—वह अबोध विदेशी हँसोड़ है।

अनंत०— तब भी सीमा होनी चाहिये।

धातु०—चाणक्य का नाम ही कौटिल्य है। उनके सूत्रों की व्याख्या करने जाकर ही यह फल मिला। क्षमा मिले तो एक बात और पूछ लूँ; क्योंकि फिर इस विषय का प्रश्न न करूँगा।

अनंत०—पूछ लो।

धातु०—उसके अर्थशास्त्र में विषकन्या का... ...

कुमार०—(डाँटकर) चुप रहो।

(नर्त्तकियों का गाते हुए प्रवेश)

न छेड़ना उस अतीत स्मृति से
खिंचे हुए बीन-तार कोकिल
करुण रागिनी तड़प उठेगी
सुना न ऐसी पुकार कोकिल

हृदय धूल में मिला दिया है
उसे चरण-चिन्ह-सा किया है
खिले फूल सब गिरा दिया है
न अब बसंती बहार कोकिल

सुनी बहुत आनंद-भैरवी
विगत हो चुकी निशा-माधवी
रही न अब शारदी कैरवी
न तो मघा की फुहार कोकिल

न खोज पागल मधुर प्रेम को
न तोड़ना और के नेम को
बचा विरह मौन के क्षेम को
कुचाल अपनी सुधार कोकिल

[पट-परिवर्त्तन]

[पथ में मातृगुप्त]

मातृ०—कविता करना अनन्त पुण्य का फल है। इस दुराशा और अनन्त उत्कंठा से कवि-जीवन व्यतीत करने की इच्छा हुई। संसार के समस्त अभावों को असंतोष कहकर हृदय को धोखा देता रहा। परन्तु कैसी विडम्बना! लक्ष्मी के लालों का भ्रूभंग और क्षोभ की ज्वाला के अतिरिक्त मिला क्या?—एक काल्पनिक प्रशंसनीय जीवन, जो कि दूसरों की दया में अपना अस्तित्व रखता है! संचित हृदय-कोष के अमूल्य रत्नों की उदारता और दारिद्र्य का व्यंग्यात्मक कठोर अट्टहास, दोनों की विषमता की कौन-सी व्यवस्था होगी। मनोरथ को—भारत के प्रकांड बौद्ध पंडित को—परास्त करने में मैं भी सबकी प्रशंसा का भाजन बना। परंतु हुआ क्या?

(मुद्गल का प्रवेश)

मुद्गल—कहिये कविजी! आप तो बहुत दिनों पर दिखाई पड़े! कुलपति की कृपा से कहीं अध्यापन-कार्य मिल गया क्या?

मातृ०—मैं तो अभी यों ही बैठा हूँ।

मुद्गल—क्या बैठे-बैठे काम चल जाता है? तब तो भाई, तुम बड़े भाग्यवान हो। कविता करते हो न? भाई! उसे छोड़ दो।

मातृ०—क्यों? वही तो मेरे भूखे हृदय का आहार है! कवित्व—वर्णमय चित्र है, जो स्वर्गीय भाव-पूर्ण संगीत गाया करता है। अंधकार का आलोक से, असत् का सत् से, जड़ का

चेतन से, और बाह्य जगत् का अन्तर्जगत् से सम्बन्ध कौन कराती है? कविता ही न!

मुद्गल—परन्तु हाथ का मुख से, पेट का अन्न से, और आँखों का निद्रा से भी सम्बन्ध होता है कि नहीं? इसको भी कभी सोचा-विचारा है?

मातृगुप्त—संसार में क्या इतनी ही वस्तुएँ विचारने की है? पशु भी इनकी चिन्ता कर लेते होंगे।

मुद्गल—और मनुष्य पशु नहीं है; क्योंकि उसे बातें बनाना आता है—अपनी मूर्खताओं को छिपाना, पापों पर बुद्धिमानी का आवरण चढ़ाना आता है! और वाग्जाल की फाँस उसके पास है। अपनी घोर आवश्यकताओं में कृत्रिमता बढ़ाकर, सभ्य और पशु से कुछ ऊँचा द्विपद मनुष्य, पशु बनने से बच जाता है।

मातृगुप्त—होगा, तुम्हारा तात्पर्य्य क्या है?

मुद्गल—विचार-पूर्ण स्वप्न-मय जीवन छोड़कर वास्तविक स्थिति मे आओ। ब्राह्मण-कुमार हो, इसीलिये दया आती है।

मातृगुप्त—क्या करूँ?

मुद्गल—मैं दो-चार दिन मे अवंती जानेवाला हूँ; युवराज भट्टारक के पास तुम्हें रखवा दूँगा। अच्छी वृत्ति मिलने लग जायगी। है स्वीकार?

मातृगुप्त—पर तुम्हे मेरे ऊपर इतनी दया क्यों?

मुद्गल—तुम्हारी बुद्धिमत्ता देखकर मैं प्रसन्न हुआ हूँ उसी दिन से मै खोजता था। तुम जानते हो कि राजकृपा का

अधिकारी होने के लिये समय की आवश्यकता है। बड़े लोगों की एक दृढ़ धारणा होती है कि, 'अभी टकराने दो, ऐसे बहुत आया-जाया करते है।'

मातृगुप्त—तब तो बड़ी कृपा है। मै अवश्य चलूँगा। काश्मीरमंडल मे हूणों का आतंक है, शास्त्र और संस्कृत-विद्या का कोई पूछनेवाला नहीं। म्लेच्छाक्रान्त देश छोड़कर राजधानी मे चला आया था। अब आप ही मेरे पथ-प्रदर्शक हैं।

मुद्गल—अच्छा तो मै जाता हूँ, शीघ्र ही मिलूँगा। तुम चलने के लिये प्रस्तुत रहना।

(जाता है)

मातृगुप्त—काश्मीर! जन्मभूमि!! जिसकी धूलि में लोट कर खड़े होना सीखा, जिसमे खेल-खेलकर शिक्षा प्राप्त की, जिसमें जीवन के परमाणु संगठित हुए थे, वही छूट गया! और बिखर गया एक मनोहर स्वप्न, आह! वही जो मेरे इस जीवन-पथ का पाथेय रहा!

प्रिय!

संसृति के वे सुंदरतम क्षण यों ही भूल नहीं जाना
'वह उच्छृङ्खलता थी अपनी'—कहकर मन मत बहलाना
मादकता-सी तरल हँसी के प्याले में उठती लहरी
मेरे निश्वासों से उठकर अधर चूमने को ठहरी
मैं व्याकुल परिरंभ-मुकुल में बन्दी अलि-सा काँप रहा
छलक उठा प्याला, लहरी में मेरे सुख को माप रहा
सजग सुप्त सौंदर्य्य हुआ, हो चपल चलीं भौंहें मिलने
लीन हो गई लहरें, लगे मेरे ही नख छाती छिलने

श्यामा का नखदान मनोहर मुक्ताओं से ग्रथित रहा
जीवन के उस पार उड़ाता हँसी, खड़ा मैं चकित रहा
तुम अपनी निष्ठुर क्रीड़ा के विभ्रम से, बहकाने से
सुखी हुए, फिर लगे देखने मुझे पथिक पहचाने-से
उस सुख का आलिङ्गन करने कभी भूलकर आ जाना
मिलन-क्षितिज-तट मधु-जलनिधि मे मृदु हिलकोर उठा जाना

कुमारदास—(प्रवेश करके) साधु !

मातृगुप्त—(अपनी भावना मे तल्लीन जैसे किसीको न देख रहा हो) अमृत के सरोवर में स्वर्ण-कमल खिल रहा था, भ्रमर वंशी बजा रहा था, सौरभ और पराग की चहल-पहल थी। सवेरे सूर्य्य की किरणें उसे चूमने को लोटती थी, संध्या मे शीतल चाँदनी उसे अपनी चादर से ढँक देती थी। उस मधुर सौन्दर्य, उस अतीन्द्रिय जगत् की साकार कल्पना की ओर मैंने हाथ बढ़ाया था, वहीं—वहीं स्वप्न टूट गया !

कुमारदास—समझ में न आया, सिंहल मे और काश्मीर में क्या भेद है। तुम गौरवर्ण हो, लम्बे हो, खिंची हुई भौंहें है; सब होने पर भी सिंहलियो की घुँघुराली लटे, उज्ज्वल श्याम शरीर, क्या स्वप्न में देखने की वस्तु नहीं ?

मातृगुप्त—(कुमारदास को जैसे सहसा देखकर) पृथ्वी की समस्त ज्वाला को जहाँ प्रकृति ने अपने बर्फ के अञ्चल से ढँक दिया है, उस हिमालय के—

कुमारदास—और बडवानल को अनन्त जलराशि से जो संतुष्ट कर रहा है, उस रत्नाकर को—अच्छा जाने दो, रत्नाकर

नीचा है, गहरा है। हिमालय ऊँचा है, गर्व से सिर उठाये है, तव जय हो काश्मीर की ! हाँ, उस हिमालय के...... ..

मातृगुप्त—उस हिमालय के ऊपर प्रभात-सूर्य्य की सुनहरी प्रभा से आलोकित बर्फ़ का, पीले पोखराज का-सा, एक महल था। उसीसे नवनीत की पुतली झाँककर विश्व को देखती थी। वह हिम की शीतलता से सुसंगठित थी। सुनहरी किरणों को जलन हुई। तप्त होकर महल को गला दिया। पुतली ! उसका मंगल हो, हमारे अश्रु की शीतलता उसे सुरक्षित रखे। कल्पना की भाषा के पंख गिर जाते हैं, मौन-नीड़ मे निवास करने दो। छेड़ो मत मित्र।

कुमारदास—तुम विद्वान हो, सुकवि हो, तुमको इतना मोह ?

मातृगुप्त—यदि यह विश्व इन्द्रजाल ही है, तो उस इन्द्र-जाली की अनन्त इच्छा को पूर्ण करने का साधन—यह मधुर मोह चिरजीवी हो और अभिलाषा से मचलनेवाले भूखे हृदय को आहार मिले।

कुमारदास—मित्र ! तुम्हारी कोमल कल्पना, वाणी की वीणा मे झनकार उत्पन्न करेगी। तुम सचेष्ट बनो, प्रतिभाशील हो। तुम्हारा भविष्य बड़ा उज्ज्वल है।

मातृगुप्त—उसकी चिंता नहीं। दैन्य जीवन के प्रचंड आतप में सुन्दर स्नेह मेरी छाया बने ! झुलसा हुआ जीवन धन्य हो जायगा।

कुमारदास—मित्र ! इन थोड़े दिनों का परिचय मुझे आजीवन स्मरण रहेगा। अब तो मै सिंहल जाता हूँ—देश की

पुकार है। इसलिये मैं स्वप्नों का देश 'भव्य भारत' छोड़ता हूँ। कविवर! इस क्षीण-परिचय कुमार धातुसेन को भूलना मत— कभी आना।

मातृगुप्त—सम्राट कुमारगुप्त के सहचर, विनोदशील कुमार-दास! तुम क्या कुमार धातुसेन हो?

कुमारदास—हाँ मित्र, लंका का युवराज। हमारा एक मित्र, एक बाल-सहचर, प्रख्यातकीर्ति, महाबोधि-विहार का श्रमण है। उसे और गुप्त-साम्राज्य का वैभव देखने पर्य्यटक के रूप मे भारत चला आया था। गौतम के पद-रज से पवित्र भूमि को खूब देखा और देखा दर्प से उद्धत गुप्त-साम्राज्य के तीसरे पहर का सूर्य्य। आर्य्य-अभ्युत्थान का यह स्मरणीय युग है। मित्र, परिवर्तन उपस्थित है।

मातृगुप्त—सम्राट कुमारगुप्त के साम्राज्य में परिवर्तन!

धातुसेन—सरल युवक! इस गतिशील जगत् मे परिवर्तन पर आश्चर्य! परिवर्तन रुका कि महापरिवर्तन—प्रलय—हुआ! परि-वर्तन ही सृष्टि है, जीवन है। स्थिर होना मृत्यु है, निश्चेष्ट शांति मरण है। प्रकृति क्रियाशील है। समय पुरुष और स्त्री की गेंद लेकर दोनो हाथ से खेलता है। पुल्लिंग और स्त्रीलिंग की समष्टि अभिव्यक्ति की कुंजी है। पुरुष उछाल दिया जाता है, उत्पेक्षण होता है। स्त्री आकर्षण करती है। यही जड़ प्रकृति का चेतन रहस्य है।

मातृगुप्त—निस्सन्देह। अनन्तदेवी के इशारे पर कुमारगुप्त नाच रहे है। अद्भुत पहेली है!

धातुसेन—पहेली ! यह भी रहस्य ही है। पुरुष है—कुतूहल और प्रश्न। और स्त्री है विश्लेषण, उत्तर और सब बातों का समाधान। पुरुष के प्रत्येक प्रश्न का उत्तर देने के लिये वह प्रस्तुत है। उसके कुतूहल—उसके अभावों को परिपूर्ण करने का उष्ण प्रयत्न और शीतल उपचार ! अभागा मनुष्य संतुष्ट है - बच्चों के समान। पुरुष ने कहा—'क', स्त्री ने अर्थ लगा दिया—'कौवा'; बस, वह रटने लगा। विषय-विह्वल वृद्ध सम्राट, तरुणी की आकांक्षाओं के साधन बन रहे हैं। काले मेघ क्षितिज में एकत्र हैं, शीघ्र ही अन्धकार होगा। परंतु आशा का केन्द्र ध्रुवतारा एक युवराज 'स्कंद' है। निर्मम शून्य आकाश में शीघ्र ही अनेक वर्ण के मेघ रंग भरेंगे। एक विकट अभिनय का आरम्भ होनेवाला है। तुम भी संभवतः उसके अभिनेताओं में से एक होगे। सावधान ! सिंहल तुम्हारे लिये प्रस्तुत है। (प्रस्थान)

मातृगुप्त—विचक्षण उदार राजकुमार !

[प्रस्थान]

[अनन्तदेवी का सुसज्जित प्रकोष्ठ]

अनन्तदेवी—जया ! रात्रि का द्वितीय प्रहर तो व्यतीत हो रहा है, अभी भटार्क के आने का समय नहीं हुआ ?

जया—स्वामिनी ! आप बड़ा भयानक खेल खेल रही हैं।

अनन्त०—क्षुद्र हृदय—जो चूहे के शब्द से भी शंकित होते है, जो अपनी साँस से ही चौंक उठते हैं, उनके लिये उन्नति का कंटकित मार्ग नहीं है। महत्त्वाकांक्षा का दुर्गम स्वर्ग उनके लिये स्वप्न है।

जया—परंतु राजकीय अन्तःपुर की मर्यादा बड़ी कठोर अथच फूल से कोमल है।

अनन्त०—अपनी नियति का पथ मैं अपने पैरों चलूँगी, अपनी शिक्षा रहने दे।

(जया कपाट के समीप कान लगाती है, सकेत होता है, गुप्त द्वार खुलते ही भटार्क सामने उपस्थित होता है।)

भटार्क—महादेवी की जय हो !

अनन्त०—परिहास न करो मगध के महाबलाधिकृत ! देवकी के रहते किस साहस से तुम मुझे महादेवी कहते हो ?

भटार्क—हमारा हृदय कह रहा है, और आये दिन साम्राज्य की जनता, प्रजा, सभी कहेगी।

अनंत०—मुझे विश्वास नहीं होता।

भटार्क—महादेवी ! कल सम्राट के समक्ष जो विद्रूप और व्यङ्ग-बाण मुझपर बरसाये गये है, वे अन्तस्तल से गड़े हुए हैं। उनके निकालने का प्रयत्न नहीं करूँगा, वे ही भावी विप्लव मे सहायक होंगे। चुभ-चुभकर वे मुझे सचेत करेंगे।

मैं उन पथ-प्रदर्शकों का अनुसरण करूँगा। बाहुबल से, वीरता से और अनेक प्रचंड पराक्रमों से ही मुझे मगध के महाबलाधिकृत का माननीय पद मिला है; मैं उस सम्मान की रक्षा करूँगा। महादेवी! आज मैंने अपने हृदय के मार्मिक रहस्य का अकस्मात् उद्घाटन कर दिया है। परन्तु वह भी जान-बूझकर—समझकर। मेरा हृदय शूलों के लोहफलक सहने के लिये है, क्षुद्र विष-वाक्य-बाण के लिये नहीं।

अनन्त०—तुम वीर हो भटार्क! यह तुम्हारे उपयुक्त ही है। देवकी का प्रभाव जिस उग्रता से बढ़ रहा है, उसे देखकर मुझे पुरगुप्त के जीवन में शंका हो रही है। महाबलाधिकृत! दुर्बल माता का हृदय उसके लिये आज ही से चिन्तित है, विकल है। सम्राट की मति एक-सी नहीं रहती, वे अव्यवस्थित और चंचल है। इस अवस्था में वे विलास की अधिक मात्रा से केवल जीवन के जटिल सुखों की गुत्थियाँ सुलझाने में व्यस्त हैं।

भटार्क—मैं सब समझ रहा हूँ। पुष्यमित्रों के युद्ध में मुझे सेनापति की पदवी नहीं मिली, इसका कारण भी मैं जानता हूँ। मैं दूध पीनेवाला शिशु नहीं हूँ। और यह मुझे स्मरण है कि पृथ्वीसेन के विरोध करने पर भी आपकी कृपा से मुझे महाबलाधिकृत का पद मिला है। मैं कृतघ्न नहीं हूँ, महादेवी! आप निश्चिन्त रहें।

अनन्त०—पुष्यमित्रों के युद्ध में भेजने के लिये मैंने भी कुछ समझकर उद्योग नहीं किया। भटार्क! क्रान्ति उपस्थित है, तुम्हारा यहाँ रहना आवश्यक है।

भटार्क—क्रान्ति के सहसा इतना समीप उपस्थित होने के तो कोई लक्षण मुझे नहीं दिखाई पड़ते।

अनन्त०—राजधानी में आनन्द-विलास हो रहा है, और पारसीक मदिरा की धारा बह रही है; इनके स्थान पर रक्त की धारा बहेगी! आज तुम कालागुरु के गंध-धूम से सन्तुष्ट हो रहे हो, कल इन उच्च सौध-मन्दिरों में महापिशाची की विप्लव-ज्वाला धधकेगी! उस चिरायँध की उत्कट गंध असह्य होगी। तब तुम भटार्क! उस आगामी खंड-प्रलय के लिये प्रस्तुत हो कि नही? (ऊपर देखती हुई) उहूँ, प्रपंचबुद्धि की कोई बात आज तक मिथ्या नहीं हुई।

भटार्क—कौन प्रपंचबुद्धि?

अनन्त०—सूचीभेद्य अंधकार मे छिपनेवाली रहस्यमयी नियति का—प्रज्वलित कठोर नियति का—नील आवरण उठा कर झाँकनेवाला। उसकी आँखो मे अभिचार का संकेत है; मुस्कराहट में विनाश की सूचना है; आँधियो से खेलता है, बातें करता है—बिजलियो से आलिगन!

(प्रपंचबुद्धि का सहसा प्रवेश)

प्रपंचबुद्धि—स्मरण है भाद्र की अमावस्या?

(भटार्क और अनन्तदेवी सहमकर हाथ जोड़ते है)

अनन्त०—स्मरण है, भिक्षु-शिरोमणे! उसे मै भूल सकती हूँ!

प्रपंच०—कौन, महाबलाधिकृत! हँ हॅ हॅ हँ, तुम लोग सद्धर्म के अभिशाप की लीला देखोगे; हे आँखो म इतना बल?

क्यो, समझ लिया था कि इन मुंडित-मस्तक जीर्ण-कलेवर भिक्षु-कंकालों मे क्या धरा है। देखो—शव-चिता मे नृत्य करती हुई तारा का तांडव नृत्य, शून्य सर्वनाशकारिणी प्रकृति की मुंड-मालाओं की कंदुक-क्रीड़ा! अश्वमेध हो चुके, उनके फल-स्वरूप महानरमेध का उपसंहार भी देखो। (देखकर) है तुझमें—तू करेगा? अच्छा महादेवी! अमावस्या के पहले प्रहर में, जब नील गगन से भयानक और उज्ज्वल उल्कापात होगा, महा-शून्य की ओर देखना। जाता हूँ। सावधान!

(प्रस्थान)

भटार्क—महादेवी! यह भूकंप के समान हृदय को हिला देने-वाला कौन व्यक्ति है? ओह, मेरा तो सिर घूम रहा है!

अनन्त०—यही तो भिक्षु प्रपंचबुद्धि है!

भटार्क—तब मुझे विश्वास हुआ। यह क्रूर-कठोर नर-पिशाच मेरी सहायता करेगा। मैं उस दिन के लिये प्रस्तुत हूँ।

अनन्त०—तब प्रतिश्रुत होते हो?

भटार्क—दास सदैव अनुचर रहेगा।

अनन्त०—अच्छा, तुम इसी गुप्त द्वार से जाओ। देखूँ, अभी कादम्ब की मोह-निद्रा से सम्राट जगे कि नही!

जया—(प्रवेश करके) परम भट्टारक अँगड़ाइयाँ ले रहे है। स्वामिनी, शीघ्र चलिये।

(जया का प्रस्थान)

भटार्क—तो महादेवी, आज्ञा हो।

अनन्त०—(देखती हुई) भटार्क ! जाने को कहूँ ? इस शत्रु-पुरी में मैं असहाय अबला इतना—आह ! (आँसू पोछती है)

भटार्क—धैर्य्य रखिये । इस सेवक के बाहुबल पर विश्वास कीजिये ।

अनन्त०—तो भटार्क, जाओ ।

(जया का सहसा प्रवेश)

जया—चलिये शीघ्र !

(दोनों जाती हैं)

भटार्क—एक दुर्भेद्य नारी-हृदय में विश्व-प्रहेलिका का रहस्य-बीज है । ओह, कितनी साहसशीला स्त्री है ! देखूँ, गुप्त-साम्राज्य के भाग्य की कुंजी यह किधर घुमाती है । परन्तु इसकी आँखों में काम-पिपासा के संकेत अभी उबल रहे हैं । अतृप्ति की चंचल प्रवञ्चना कपोलों पर रक्त होकर क्रीड़ा कर रही है । हृदय में श्वासों की गरमी विलास का संदेश वहन कर रही है । परन्तु... अच्छा चलूँ, यह विचार करने का स्थान नहीं है ।

(गुप्त द्वार से जाता है)

[पट-परिवर्तन]

[अन्तःपुर का द्वार]

शर्वनाग—(टहलता हुआ) कौन-सी वस्तु देखी ? किस सौंदर्य्य पर मन रीझा ? कुछ नहीं, सदैव इसी सुन्दरी खड्ग-लता की प्रभा पर मैं मुग्ध रहा। मैं नहीं जानता कि और भी कुछ सुन्दर है। वह मेरी स्त्री—जिसके अभावों का कोप कभी खाली नहीं, जिसको भर्त्सनाओं का भांडार अक्षय है, उससे मेरी अंतरात्मा कॉप उठती है। आज मेरा पहरा है। घर से जान छूटी, परन्तु रात बड़ी भयानक है। चलूँ अपने स्थान पर बैठूँ। सुनता हूँ कि परम भट्टारक की अवस्था अत्यन्त शोचनीय है—जाने भगवान...

(भटार्क का प्रवेश)

भटार्क—कौन ?

शर्वनाग—नायक शर्वनाग।

भटार्क—कितने सैनिक हैं ?

शर्व०—पूरा एक गुल्म।

भटार्क—अंतःपुर से कोई आज्ञा मिली है ?

शर्व०—नहीं।

भटार्क—तुमको मेरे साथ चलना होगा।

शर्व०—मैं प्रस्तुत हूँ; कहाँ चलूँ ?

भटार्क—महादेवी के द्वार पर।

शर्व०—वहाँ मेरा क्या कर्त्तव्य होगा ?

भटार्क—कोई न तो भीतर जाने पावे और न भीतर से बाहर आने पावे।

शर्व०—(चौंककर) इसका तात्पर्य्य ?

भटार्क—(गम्भीरता से) तुमको महाबलाधिकृत की आज्ञा पालन करनी चाहिये।

शर्व०—तब भी क्या स्वयं महादेवी पर नियंत्रण रखना होगा ?

भटार्क—हाँ।

शर्व०—ऐसा !

भटार्क—ऐसा ही।

(कोलाहल, भीषण उल्कापात)

भटार्क—ओह, ठीक समय हो गया ! अच्छा, मैं अभी आता हूँ।

(द्वार खोलकर भटार्क भीतर जाता है)

(रामा का प्रवेश)

रामा—क्यों, तुम आज यहीं हो ?

शर्व०—मैं, मैं, यहीं हूँ; तुम कैसे ?

रामा—मूर्ख ! महादेवी सम्राट को देखना चाहती हैं, परन्तु उनके आने में बाधा है। गोबर-गणेश ! तू कुछ कर सकता है ?

शर्व०—मैं क्रोध से गरजते हुए सिंह की पूँछ उखाड़ सकता हूँ, परन्तु सिंहवाहिनी ! तुम्हें देखकर मेरे देवता कूच कर जाते हैं !

रामा—(पैर पटककर) तुम कीड़े से भी अपदार्थ हो !

शर्व०—न न न न, ऐसा न कहो, मैं सब कुछ हूँ। परन्तु मुझे घबराओ मत; समझाकर कहो। मुझे क्या करना होगा ?

रामा—महादेवी देवकी की रक्षा करनी होगी, समझा ? क्या आज इस संपूर्ण गुप्त-साम्राज्य में कोई ऐसा प्राणी नहीं, जो उनकी रक्षा करे ! शत्रु अपने विषैले डंक और तीखे डाढ़ सँवार रहे हैं। पृथ्वी के नीचे कुमंत्रणाओं का क्षीण भूकम्प चल रहा है।

शर्व०—यही तो मैं भी कभी-कभी सोचता था। परन्तु...

रामा—तुम, जिस प्रकार हो सके, महादेवी के द्वार पर आओ, मैं जाती हूँ।

(जाती है)

(एक सैनिक का प्रवेश)

सैनिक—नायक ! न जाने क्यों हृदय दहल उठा है, जैसे सनसन करती हुई, डर से, यह आधी रात खिसकती जा रही है ! पवन में गति है, परन्तु शब्द नहीं। 'सावधान' रहने का शब्द मैं चिल्लाकर कहता हूँ, परन्तु मुझे ही सुनाई नहीं पड़ता है। यह सब क्या है नायक ?

शर्व०—तुम्हारी तलवार कहीं भूल तो नहीं गई है ?

सैनिक—म्यान हल्की-सी लगती है, टटोलता हूँ—पर...

शर्व०—तुम घबराओ मत, तीन साथियों को साथ लेकर घूमो, सबको सचेत रक्खो। हम इसी शिला पर हैं, कोई डरने की बात नहीं।

(सैनिक जाता है, फाटक खोलकर पुरगुप्त निकलता है, पीछे भटार्क और सैनिक।)

पुरगुप्त—नायक शर्वनाग !

शर्व०—जय हो कुमार की! क्या आज्ञा है?

पुरगुप्त—तुम साम्राज्य की शिष्टता सीखो।

शर्व०—कुमार! दास चिर-अपराधी है। (सिर झुका लेता है)

भटार्क—इन्हें महादेवी के द्वार पर जाने की आज्ञा दीजिये, यह विश्वस्त सैनिक वीर हैं।

पुरगुप्त—जाओ तुम महादेवी के द्वार पर। जैसा महाबलाधिकृत ने कहा है, वैसा करना।

शर्व०—जैसी आज्ञा।

(अपने सैनिकों को साथ लेकर जाता है, दूसरे नायक और सैनिक परिक्रमण करते है।)

भटार्क—कोई भी पूछे तो यह मत कहना कि सम्राट का निधन हो गया है। हाँ, बढ़ी हुई अस्वस्थता का समाचार बतलाना और सावधान, कोई भी—चाहे वह कुमारामात्य ही क्यों न हो—भीतर न आने पावे। तुम यही कहना कि परम भट्टारक अत्यन्त विकल हैं, किसीसे मिलना नहीं चाहते। समझा?

नायक—अच्छा......

(दोनों जाते है, फाटक बन्द होता है)

नायक—(सैनिकों से) आज बड़ी विकट अवस्था है, भाइयो! सावधान!

(कुमारामात्य, पृथ्वीसेन, महादंडनायक और महाप्रतिहार का प्रवेश)

महाप्रतिहार—नायक, द्वार खोलो, हम लोग परम भट्टारक का दर्शन करेंगे।

नायक—प्रभु! किसीको भीतर जाने की आज्ञा नही है।

महाप्रतिहार—(चौंककर) आज्ञा ! किसको आज्ञा ? अबोध ! तू नहीं जानता—सम्राट के अंतःपुर पर स्वयं सम्राट का भी उतना अधिकार नहीं जितना महाप्रतिहार का ? शीघ्र द्वार उन्मुक्त कर।

नायक—दंड दीजिये प्रभु, परन्तु द्वार न खुल सकेगा।

महाप्रति०—तू क्या कह रहा है !

नायक—जैसी भीतर से आज्ञा मिली है।

कुमारामात्य—(पैर पटककर) ओह !

दंडनायक—विलम्ब असह्य है, नायक ! द्वार से हट जाओ।

महाप्रति०—मैं आज्ञा देता हूँ कि तुम अंतःपुर से हट जाओ युवक ! नहीं तो तुम्हें पदच्युत करूँगा।

नायक—यथार्थ है। परन्तु मैं महाबलाधिकृत की आज्ञा से यहाँ हूँ, और मैं उन्हीं का अधीनस्थ सैनिक हूँ। महाप्रतिहार के अंतःपुर-रक्षकों में मैं नहीं हूँ।

महाप्रति०—क्या अंतःपुर पर भी सैनिक नियंत्रण है ? पृथ्वीसेन !

पृथ्वीसेन—इसका परिणाम भयानक है। अंतिम शय्या पर लेटे हुए सम्राट की आत्मा को कष्ट पहुँचाना होगा।

महाप्रति०—अच्छा, (कुछ देखकर) हाँ, शर्वनाग कहाँ गया ?

नायक—उसे महाबलाधिकृत ने दूसरे स्थान पर भेजा है।

महाप्रति०—(क्रोध से) मूर्ख शर्वनाग !

(अंतःपुर से क्षीण क्रंदन)

महादंडनायक—(कान लगाकर सुनते हुए) क्या सब शेष हो गया ! हम अवश्य भीतर जायँगे।

(तीनों तलवार खींच लेते हैं, नायक भी सामने आ जाता है, द्वार खोलकर पुरगुप्त और भटार्क का प्रवेश।)

पृथ्वीसेन—भटार्क ! यह सब क्या है ?

भटार्क—(तलवार खींचकर सिर से लगाता हुआ) परम भट्टारक राजाधिराज पुरगुप्त की जय हो ! माननीय कुमारामात्य, महादंडनायक और महाप्रतिहार ! साम्राज्य के नियमानुसार, शस्त्र अर्पण करके, परम भट्टारक का अभिवादन कीजिये।

(तीनों एक दूसरे का मुँह देखते हैं)

महाप्रतिहार—तब क्या सम्राट कुमारगुप्त महेन्द्रादित्य अब संसार में नहीं हैं ?

भटार्क—नहीं।

पृथ्वीसेन—परन्तु उत्तराधिकारी युवराज स्कंदगुप्त ?

पुरगुप्त—चुप रहो। तुम लोगों को बैठकर व्यवस्था नहीं देनी होगी। उत्तराधिकार का निर्णय स्वयं स्वर्गीय सम्राट कर गये हैं।

पृथ्वीसेन—परन्तु प्रमाण ?

पुरगुप्त—क्या तुम्हें प्रमाण देना होगा ?

पृथ्वीसेन—अवश्य।

पुरगुप्त—महाबलाधिकृत ! इन विद्रोहियों को बन्दी करो।

(भटार्क आगे बढ़ता है)

पृथ्वीसेन—ठहरो भटार्क ! तुम्हारी विजय हुई, परन्तु एक वात ....

पुरगुप्त—आधी वात भी नहीं, वन्दी करो।

पृथ्वीसेन—कुमार ! तुम्हारे दुर्वल और अत्याचारी हाथों में गुप्त-साम्राज्य का राजदंड टिकेगा नहीं। संभवतः तुम साम्राज्य पर विपत्ति का आवाहन करोगे। इसलिये कुमार ! इससे विरत हो जाओ।

पुरगुप्त—महावलाधिकृत ! क्यों विलम्व करते हो ?

भटार्क—आप लोग शस्त्र रखकर आज्ञा मानिये।

महाप्रतिहार—आततायी ! यह स्वर्गीय आर्य्य चन्द्रगुप्त का दिया हुआ खड्ग तेरी आज्ञा से नहीं रक्खा जा सकता ! उठा अपना शस्त्र, और अपनी रक्षा कर !

पृथ्वीसेन—महाप्रतिहार ! सावधान ! क्या करते हो ? यह अन्तर्विद्रोह का समय नहीं है। पश्चिम और उत्तर से काली घटाएँ उमड़ रही हैं, यह समय वल-नाश करने का नहीं है। आओ, हम लोग गुप्त-साम्राज्य के विधान के अनुसार चरम प्रतिकार करें। बलिदान देना होगा। परन्तु भटार्क ! जिसे तुम खेल समझकर हाथ मे ले रहे हो, उस काल-भुजङ्गी राष्ट्रनीति की—प्राण देकर भी—रक्षा करना। एक नही, सौ स्कंदगुप्त उसपर न्योछावर है। आर्य्य-साम्राज्य की जय हो ! (छुरा मारकर गिरता है, महाप्रतिहार और दंडनायक भी वैसा ही करते हैं।)

पुरगुप्त—पाखंड स्वयं विदा हो गये—अच्छा ही हुआ !

भटार्क—परन्तु भूल हुई। ऐसे स्वामिभक्त सेवक !

पुरगुप्त—कुछ नहीं। (भीतर जाती है)

भटार्क—तो जायँ, सब जायँ; गुप्त-साम्राज्य के हीरों के-से उज्ज्वल-हृदय वीर युवकों का शुद्ध रक्त, सब मेरी प्रतिहिंसा-राक्षसी के लिये बलि हो!

[नगर-प्रान्त में पथ]

मुद्गल—(प्रवेश करके) किसीके सम्मान-सहित निमंत्रण देने पर, पवित्रता से हाथ-पैर धोकर चौके पर बैठ जाना—एक दूसरी बात है; और भटकते, थकते, उछलते, कूदते, ठोकर खाते और लुढ़कते—हाथ-पैर की पूजा कराते हुए मार्ग चलना—एक भिन्न वस्तु है। कहाँ हम और कहाँ यह दौड़, कुसुमपुरी से अवन्ती और अवन्ती से मूलस्थान! इस बार की आज्ञा तो पालन करता हूँ; परन्तु, यदि, तथापि, पुनश्च, फिर भी, कभी ऐसी आज्ञा मिली कि इस ब्राह्मण ने साष्टांग प्रणाम किया। अच्छा, इस वृक्ष की छाया में बैठकर विचार कर लूँ कि सैकड़ों योजन लौट चलना अच्छा है कि थोड़ा और चलकर काम कर लेना!

(गठरी रख बैठकर ऊँघने लगता है, मातृगुप्त का प्रवेश।)

मातृगुप्त—मुझे तो युवराज ने मूलस्थान की परिस्थिति सँभालने के लिये भेजा, देखता हूँ कि यह मुद्गल भी यहाँ आ पहुँचा! चलें इसे कुछ तंग करें, थोड़ा मनोविनोद ही सही।

(कपड़े से मुँह छिपाकर, गठरी खींचकर चलता है)

मुद्गल—(उठकर) ठहरो भाई, हमारे जैसे साधारण लोग अपनी गठरी आप ही ढोते हैं; तुम कष्ट न करो। (मातृगुप्त चक्कर काटता है, मुद्गल पीछे-पीछे दौड़ता है।)

मातृगुप्त—(दूर खड़ा होकर) अब आगे बढ़े कि तुम्हारी टाँग टूटी!

मुद्गल—अपनी गठरी बचाने में टाँग टूटना बुरा नहीं,

अपशकुन नहीं। तुम यह न समझना कि हम दूर चलते-चलते थक गये हैं। तुम्हारा पीछा न छूटेगा। हम ब्राह्मण हैं, हमसे शास्त्रार्थ कर लो। डंडा न दिखाओ। हाँ, मेरी गठरी जो तुम लेते हो, इसमें कौन-सा न्याय है ? बोलो—

मातृगुप्त—न्याय ? तब तो तुम आप्तवाक्य अवश्य मानते होगे।

मुद्गल—अच्छा तो तर्कशास्त्र लगाना पड़ेगा ?

मातृगुप्त—हाँ ; तुमने गीता पढ़ी होगी ?

मुद्गल—हाँ अवश्य, ब्राह्मण और गीता न पढ़े !

मातृगुप्त—उसमें तो लिखा है कि "न त्वेवाहं जातु नाऽसौ न त्वं नेमे"—न हम हैं न तुम हो, न यह वस्तु है, न तुम्हारी है न हमारी ;—फिर इस छोटी-सी गठरी के लिये इतना झगड़ा !

मुद्गल—ओहो ! तुम नहीं समझे।

मातृगुप्त—क्या ?

मुद्गल—गीता सुनने के बाद क्या हुआ ?

मातृगुप्त—महाभारत !

मुद्गल—तब भइया, इस गठरी के लिये महाभारत का एक लघु संस्करण हो जाना आवश्यक है। गठरी में हाथ लगाया कि डंडा लगा ! (डंडा तानता है)

मातृगुप्त—मुद्गल, डंडा मत तानो, मैं वैसा मूर्ख नहीं कि सूच्यग्र-भाग के लिये दूध और मधु से बना हुआ एक बूँद रक्त भी गिराऊँ !

(गठरी देता है)

मुद्‌गल—अरे कौन! मातृगुप्त!

(नेपथ्य में कोलाहल)

मातृगुप्त—हाँ मुद्‌गल। इधर तो शक और हूणों की सम्मिलित सेना घोर आतंक फैला रही है, चारों ओर विप्लव का साम्राज्य है। निरीह भारतीयों की घोर दुर्दशा है।

मुद्‌गल—और मैं महादेवी का संदेश लेकर अवन्ती गया, वहाँ युवराज नहीं थे। वलाधिकृत पर्णदत्त की आज्ञा हुई कि महाराजपुत्र गोविन्दगुप्त को, जिस तरह हो, खोज निकालो। यहाँ तो विकट समस्या है। हम लोग क्या कर सकते हैं?

मातृगुप्त—कुछ नहीं, केवल भगवान से प्रार्थना। साम्राज्य में कोई सुननेवाला नहीं, अकेले युवराज स्कन्दगुप्त क्या करेंगे?

मुद्‌गल—परन्तु भाई, हम ईश्वर होते तो इन मनुष्यो की कोई प्रार्थना सुनते ही नहीं। इनको हर काम में हमारी आवश्यकता पड़ती है! मैं तो घबरा जाता, भला वह तो कुछ सुनते भी हैं।

मातृगुप्त—नहीं मुद्‌गल, निरीह प्रजा का नाश देखा नहीं जाता। क्या इनकी उत्पत्ति का यही उद्देश था? क्या इनका जीवन केवल चींटियो के समान किसीकी प्रतिहिंसा पूर्ण करने के लिये है? देखो—वह दूर पर बँधे हुए नागरिक और उनपर हूणो की नृशंसता! आः!!

मुद्‌गल—अरे! हाय रे वाप!!

मातृगुप्त—सावधान! असहाय अवस्था मे प्रार्थना के अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं, आओ हम लोग भगवान से विनती करें—

(दोनों सम्मिलित स्वर से)

उतारोगे अब कब भू-भार

बार-बार क्यों कह रक्खा था लूँगा मैं अवतार
उमड़ रहा है इस भूतल पर दुख का पारावार
वाड़व लेलिहान जिह्वा का करता है विस्तार
प्रलय-पयोधर बरस रहे है रक्त-अश्रु की धार
मानवता मे राक्षसत्व का अब है पूर्ण प्रचार
पड़ा नहीं कानों मे अब तक क्या यह हाहाकार
सावधान हो अब तुम जानो मैं तो चुका पुकार

(हूण-सैनिकों का प्रवेश—बन्दियों के साथ।)

हूण—चुप रह, क्या गाता है ?

मुद्गल—है है, भीख माँगता हूँ, गीत गाता हूँ। आप भी कुछ दीजियेगा ? (दीन मुद्रा बनाता है)

हूण—(धक्का देते हुए) चल, एक ओर खड़ा हो। हाँ जी, इन दुष्टों ने कुछ देना अभी स्वीकार नहीं किया, बड़े कुत्ते हैं !

नागरिक—हम निरीह प्रजा हैं। हम लोगों के पास क्या रह गया जो आप लोगों को दें। सैनिकों ने तो पहले ही लूट लिया है।

हूण-सेनापति—तुम लोग बातें बनाना खूब जानते हो। अपना छिपा हुआ धन देकर प्राण बचाना हो तो शीघ्रता करो, नहीं तो गरम किये हुए लोहे प्रस्तुत है—कोड़े और तेल में तर कपड़े भी। उस कष्ट का स्मरण करो।

नागरिक—प्राण तो तुम्हारे हाथों में है, जब चाहे ले लो।

हूण-सेनापति—(कोड़े से मारता हुआ) उसे तो ले ही लेंगे, पर, धन कहाँ है?

नागरिक—नहीं है निर्दय! हत्यारे! कह दिया कि नहीं है।

हूण-सेनापति—(सैनिकों से) इनके बालकों को तेल से भीगा हुआ कपड़ा डालकर जला दो और स्त्रियों को गरम लोहा से दागो।

स्त्रियाँ—हे नाथ!

हमारे निर्बलों के बल कहाँ हो
हमारे दीन के सम्बल कहाँ हो

पुरुष—नहीं हो नाम ही बस नाम है क्या
सुना केवल यहाँ हो या वहाँ हो

स्त्रियाँ—पुकारा जब किसीने तब सुना था
भला विश्वास यह हमको कहाँ हो

(स्त्रियों को पकड़कर हूण खींचते हैं)

मातृगुप्त—हे प्रभु!

हमें विश्वास दो अपना बना लो
सदा स्वच्छन्द हों—चाहे जहाँ हों

इन निरीहों के लिये प्राण उत्सर्ग करना धर्म्म है। कायरो! स्त्रियों पर यह अत्याचार!!

(तलवार से बंधन काटता है। लपकते हुए एक सन्यासी का प्रवेश।)

संन्यासी—साधु ! वीर ! सम्हलकर खड़े हो जाओ—भगवान पर विश्वास करके खड़े हो।

मुद्गल—(पहचानता हुआ) जय हो, महाराजपुत्र गोविन्दगुप्त की जय हो !

(सब उत्साहित होकर भिड़ जाते हैं ; हूण-सैनिक भागते हैं।)

गोविन्द०—अच्छा मुद्गल ! तुम यहाँ कैसे ? और युवक ! तुम कौन हो ?

मातृगुप्त—युवराज स्कंदगुप्त का अनुचर।

मुद्गल—वीर-पुङ्गव ! इतने दिनों पर दर्शन भी हुआ तो इस वेष मे !

गोविन्द०—मुद्गल ! क्या कहूँ। स्कंद कहाँ है ?

मातृगुप्त—उज्जयिनी में।

गोविन्द०—अच्छा है, सुरक्षित है। चलो, दुर्ग मे हमारी सेना पहुँच चुकी है, वहाँ विश्राम करो। यहाँ का प्रबन्ध करके हमको शीघ्र आवश्यक कार्य्य से मालव जाना है। अब हूणों के आतंक का डर नहीं।

सब—जय हो राजकुमार गोविन्दगुप्त की !

गोविन्द०—पुष्यमित्रों के युद्ध का क्या परिणाम हुआ ?

मातृगुप्त—विजय हुई।

गोविन्द०—और मालव का ?

मुद्गल—युवराज थोड़ी सेना लेकर बन्धुवर्म्मा की सहायता के लिये गये है।

गोविन्द०—(ऊपर देखकर) वीरपुत्र है। स्कन्द ! आकाश के देवता और पृथ्वी की लक्ष्मी तुम्हारी रक्षा करें। आर्य्य-साम्राज्य के तुम्हीं एक-मात्र भरोसा हो।

मुद्गल—तब महाराज-पुत्र ! बड़ी भूख लगी है। प्राण बचते ही भूख का धावा हो गया, शीघ्र रक्षा कीजिये !

गोविन्द०—हाँ-हाँ, सब लोग चलो।

[सब जाते हैं]

[अवन्ती का दुर्ग]

(देवसेना, विजया, जयमाला)

विजया—विजय किसकी होगी, कौन जानता है।

जयमाला—तुमको केवल अपने धन की रक्षा का इतना ध्यान है।

देवसेना—और देश के मान का, स्त्रियों की प्रतिष्ठा का, बच्चों की रक्षा का कुछ नही।

विजया—(संकुचित होकर) नहीं, मेरा अभिप्राय यह नहीं था।

जयमाला—परन्तु एक उपाय है।

विजया—वह क्या ?

जयमाला—रक्षा का निश्चित उपाय।

देवसेना—तुम्हारे पिता ने तो उस समय नहीं माना, न सुना, नहीं तो आज इस भय का अवसर ही न आता।

जयमाला—तुम्हारी अपार धन-राशि में से एक क्षुद्र अंश, वही यदि इन धन-लोलुप शृगालों को दे दिया जाता तो......

विजया—किन्तु इस प्रकार अर्थ देकर विजय खरीदना तो देश की वीरता के प्रतिकूल है।

जयमाला—ठहरो, कोई आ रहा है।

(बन्धुवर्म्मा का प्रवेश)

बंधुवर्म्मा—प्रिये ! अभी तक युवराज का कोई संदेश नहीं मिला। संभवतः शक और हूणों की सम्मिलित वाहिनी से आज दुर्ग की रक्षा न कर सकूँगा।

जयमाला—नाथ ! तब क्या मुझे स्कंदगुप्त का अभिनय करना होगा ? क्या मालवेश को दूसरे की सहायता पर ही राज्य करने का साहस हुआ था ? जाओ प्रभु ! सेना लेकर सिंह-विक्रम से सेना पर टूट पड़ो ! दुर्ग-रक्षा का भार मैं लेती हूँ ।

विजया—महाराज ! यह केवल वाचालता है । दुर्ग-रक्षा का भार सुयोग्य सेनापति पर होना चाहिये ।

वन्धुवर्म्मा—घबराओ मत श्रेष्ठि-कन्ये !

जयमाला—स्वर्ण-रत्न की चमक देखनेवाली आँखें बिजली-सी तलवारों के तेज को कब सह सकती हैं । श्रेष्ठि-कन्ये ! हम क्षत्राणी हैं, चिरसङ्गिनी खड्गलता का हम लोगों से चिर-स्नेह है ।

वन्धुवर्म्मा—प्रिये ! शरणागत और विपन्न की मर्य्यादा रखनी चाहिये । अच्छा, दुर्ग का तो नहीं, अंतःपुर का भार तुम्हारे ऊपर है ।

देवसेना—भइया, आप निश्चिन्त रहिये ।

वंधुवर्म्मा—भीम दुर्ग का निरीक्षण करेगा ; मैं जाता हूँ ।

(जाता है)

विजया—भयानक युद्ध समीप ही जान पड़ता है, क्यों राजकुमारी !

देवसेना—तुम वीणा ले लो तो मैं कुछ गाऊँ ।

विजया—हँसी न करो राजकुमारी !

जयमाला—बुरा क्या है ?

विजया—युद्ध और गान !

जयमाला—युद्ध क्या गान नहीं है? रुद्र का शृंगीनाद, भैरवी का तांडवनृत्य, और शस्त्रों का वाद्य मिलकर भैरव-संगीत की सृष्टि होती है। जीवन के अंतिम दृश्य को जानते हुए, अपनी आँखों से देखना, जीवन-रहस्य के चरम सौन्दर्य्य की नग्न और भयानक वास्तविकता का अनुभव केवल सच्चे वीर-हृदय को होता है। ध्वंसमयी महामाया प्रकृति का वह निरंतर संगीत है। उसे सुनने के लिये हृदय में साहस और बल एकत्र करो। अत्याचार के श्मशान में ही मङ्गल का, शिव का, सत्य सुन्दर संगीत का समारम्भ होता है।

देवसेना—तो भाभो, मैं तो गाती हूँ। एक बार गा लूँ, हमारा प्रिय गान फिर गाने को मिले या नहीं।

जयमाला—तो गाओ न।

विजया—रानी! तुम लोग आग की चिनगारियाँ हो, या स्त्री हो? देवी! ज्वालामुखी की सुन्दर लट के समान तुम लोग......

जयमाला—सुनो, देवसेना गा रही है—

(गाना)

भरा नैनों मे मन में रूप
किसी छलिया का अमल अनूप
जल-थल, मारुत, व्योम मे, जो छाया है सब ओर
खोज-खोजकर खो गई मैं, पागल - प्रेम - विभोर
भाँग से भरा हुआ यह कूप
भरा नैनों में मन में रूप

धमनी की तंत्री बजी, तू रहा लगाये कान
बलिहारी मैं, कौन तू है मेरा जीवन-प्रान
खेलता जैसे छाया-धूप।
भरा नैनों में मन में रूप॥

(सहसा भीमवर्म्मा का प्रवेश)

भीम—भाभी, दुर्ग का द्वार टूट चुका है। हम अंतःपुर के बाहरी द्वार पर हैं। अब तुम लोग प्रस्तुत रहना।

जयमाला—उनका क्या समाचार है?

भीम—अभी कुछ नहीं मिला। गिरिसंकट में उन्होंने शत्रुओं के मार्ग को रोका था, परन्तु दूसरी शत्रु-सेना गुप्त मार्ग से आ गई। मैं जाता हूँ, सावधान!

(जाता है)

(नेपथ्य में कोलाहल, भयानक शब्द)

विजया—महारानी! किसी सुरक्षित स्थान में निकल चलिये।

जयमाला—(छुरी निकालकर) रक्षा करनेवाली तो पास है, डर क्या, क्यों देवसेना?

देवसेना—भाभी! श्रेष्ठि-कन्या के पास नहीं है, उन्हें भी दो।

विजया—न न न, मैं लेकर क्या करूँगी, भयानक!

देवसेना—इतनी सुन्दर वस्तु क्या कलेजे में रख लेने के योग्य नहीं है?

विजया—(धड़ाके का शब्द सुनकर) ओह! तुम लोग बड़ी निर्दय हो!

जयमाला—जाओ, एक ओर छिपकर खड़ी हो जाओ!

(रक्त से लथपथ भीम का प्रवेश)

भीम—भाभी ! रक्षा न हो सकी, अब तो मैं जाता हूँ। वीरों के वरणीय सम्मान को अवश्य प्राप्त करूँगा। परन्तु...

जयमाला—हम लोगों को चिन्ता न करो। वीर ! स्त्रियो की, ब्राह्मणों की, पीड़ितों और अनाथों की रक्षा में प्राण-विसर्जन करना, क्षत्रिय का धर्म्म है। एक प्रलय की ज्वाला अपनी तलवार से फैला दो। भैरव के शृंगीनाद के समान प्रबल हुंकार से शत्रु-हृदय कँपा दो। वीर ! बढ़ो, गिरो तो मध्यान्ह के भीषण सूर्य्य के समान !—आगे, पीछे, सर्वत्र आलोक और उज्ज्वलता रहे !

(भीम का प्रस्थान, द्वार का टूटना, विजयी शत्रु-सेनापति का प्रवेश, भीम का आकर रोकना, गिरते-गिरते भीम का जयमाला और देवसेना की सहायता से युद्ध। सहसा स्कंदगुप्त का सैनिकों के साथ प्रवेश।)

'युवराज स्कंदगुप्त की जय !'

(शक और हूण स्तम्भित होते हैं)

स्कंद०—ठहरो देवियो ! स्कंद के जीवित रहते स्त्रियों को शस्त्र नहीं चलाना पड़ेगा।

(युद्ध ; सब पराजित और बंदी होते हैं।)

विजया—(झाँककर) अहा ! कैसी भयानक और सुन्दर मूर्त्ति है !

स्कन्द०—(विजया को देखकर) यह—यह कौन ?

[पटाक्षेप]

द्वितीय अंक

[मालव में शिप्रा-तट-कुंज]

देवसेना—इसी पृथ्वी पर है और अवश्य है।

विजया—कहाँ राजकुमारी ? संसार में छल, प्रवञ्चना और हत्याओं को देखकर कभी-कभी मान ही लेना पड़ता है कि यह जगत् ही नरक है। कृतघ्नता और पाखंड का साम्राज्य यहीं है। छीना-झपटी, नोच-खसोट, मुँह में से आधी रोटी छीन कर भागनेवाले विकट जीव यहीं तो हैं। श्मशान के कुत्तों से भी बढ़कर मनुष्यों की पतित दशा है।

देवसेना—पवित्रता की माप है मलिनता, सुख का आलोचक है दुःख, पुण्य की कसौटी है पाप। विजया! आकाश के सुन्दर नक्षत्र आँखों से केवल देखे ही जाते हैं; वे कुसुम-कोमल हैं कि वज्र-कठोर—कौन कह सकता है। आकाश में खेलती हुई कोकिल की करुणामयी तान का कोई रूप है या नहीं, उसे देख नहीं पाते। शतदल और पारिजात का सौरभ बिठा रखने की वस्तु नहीं। परन्तु संसार में ही नक्षत्र से उज्ज्वल—किन्तु कोमल—स्वर्गीय संगीत की प्रतिमा तथा स्थायी कीर्त्ति-सौरभ वाले प्राणी देखे जाते हैं। उन्हीं से स्वर्ग का अनुमान कर लिया जा सकता है।

विजया—होंगे, परन्तु मैंने नहीं देखा।

देवसेना—तुमने सचमुच कोई ऐसा व्यक्ति नहीं देखा ?

विजया—नहीं तो—

देवसेना—समझकर कहो।

विजया—हाँ, समझ लिया है।

देवसेना—क्या तुम्हारा हृदय कहीं पराजित नहीं हुआ ? विजया ! विचारकर कहो, किसी भी असाधारण महत्त्व से तुम्हारा उद्दंड हृदय अभिभूत नहीं हुआ ? यदि हुआ है तो वही स्वर्ग है। जहाँ हमारी सुन्दर कल्पना आदर्श का नीड़ बनाकर विश्राम करती है, वही स्वर्ग है। वही विहार का, वही प्रेम करने का स्थल स्वर्ग है, और वह इसी लोक में मिलता है। जिसे नहीं मिला, वह इस संसार में अभागा है।

विजया—तो राजकुमारी, मैं कह दूँ ?

देवसेना—हाँ, हाँ, तुम्हें कहना ही होगा।

विजया—मुझे तो आज तक किसीको देखकर हारना नहीं पड़ा। हाँ, एक युवराज के सामने मन ढीला हुआ, परंतु मैं उसे कुछ राजकीय प्रभाव भी कहकर टाल दे सकती हूँ।

देवसेना—नहीं विजया ! वह टालने से, बहला देने से, नहीं हो सकता। तुम भाग्यवती हो, देखो यदि वह स्वर्ग तुम्हारे हाथ लगे। (सामने देखकर) अरे लो ! वह युवराज आ रहे हैं। हम लोग हट चलें।

(दोनों जाती हैं, स्कंदगुप्त का प्रवेश, पीछे चक्रपालित)

स्कंद०—विजय का क्षणिक उल्लास हृदय की भूख मिटा

देगा ? कभी नहीं। वीरों का भी क्या ही व्यवसाय है, क्या ही उन्मत्त भावना है। चक्रपालित ! संसार में जो सबसे महान् है, वह क्या है ? त्याग। त्याग का ही दूसरा नाम महत्त्व है। प्राणों का मोह त्याग करना वीरता का रहस्य है।

चक्र०—युवराज ! संपूर्ण संसार कर्म्मण्य वीरों की चित्र-शाला है। वीरत्व एक स्वावलम्बी गुण है। प्राणियों का विकास संभवतः इसी विचार के ऊर्जित होने से हुआ है। जीवन मे वही तो विजयी होता है, जो दिन-रात "युद्ध्यस्व विगतज्वरः" का शंखनाद सुना करता है।

स्कंद०—चक्र ! ऐसा जीवन तो विडम्बना है, जिसके लिये दिन-रात लड़ना पड़े। आकाश में जब शीतल शुभ्र शरद्-शशि का विलास हो, तब भी दाँत-पर-दाँत रखे, मुट्ठियों को बाँधे हुए, लाल आँखों से एक दूसरे को घूरा करे ! वसंत के मनो-हर प्रभात में, निभृत कगारों में, चुपचाप बहनेवाली सरिताओं का स्रोत गरम रक्त बहाकर लाल कर दिया जाय ! नहीं, नहीं चक्र ! मेरी समझ में मानव-जीवन का यही उद्देश नहीं है। कोई और भी निगूढ़ रहस्य है, चाहे उसे मैं स्वयं न जान सका हूँ।

चक्र०—सावधान युवराज ! प्रत्येक जीवन में कोई बड़ा काम करने के पहले ऐसे ही दुर्बल विचार आते हैं; वह तुच्छ प्राणों का मोह है। अपने को झगड़ों से अलग रखने के लिये, अपनी रक्षा के लिये, यह उसका क्षुद्र प्रयत्न होता है। अयोध्या चलने के लिये आपने कब का समय निश्चित किया है ? राज-

सिंहासन कब तक सूना रहेगा ? पुष्यमित्रों और शकों के युद्ध समाप्त हो चुके है।

स्कंद०—तुम मुझे उत्तेजित कर रहे हो।

चक्र०—हाँ युवराज ! मुझे यह अधिकार है।

स्कंद०—नहीं चक्र ! अश्वमेध-पराक्रम स्वर्गीय सम्राट कुमारगुप्त का आसन मेरे योग्य नहीं है। मै झगड़ा करना नहीं चाहता, मुझे सिंहासन न चाहिये। पुरगुप्त को रहने दो। मेरा अकेला जीवन है। मुझे······

चक्र०—यह नहीं होगा। यदि राज्यशक्ति के केन्द्र में ही अन्याय होगा, तब तो समग्र राष्ट्र अन्यायों का क्रीड़ा-स्थल हो जायगा। आपको सबके अधिकारों की रक्षा के लिये अपना अधिकार सुरक्षित करना ही पड़ेगा।

(चर का आना, कुछ संकेत करना, दोनों का प्रस्थान, देवसेना और विजया का प्रवेश।)

विजया—यह क्या राजकुमारी ! युवराज तो उदासीन हैं।

देवसेना—हाँ विजया, युवराज की मानसिक अवस्था कुछ बदली हुई है।

विजया—दुर्बलता इन्हें राज्य से हटा रही है।

देवसेना—कहीं तुम्हारा सोचा हुआ, युवराज के महत्त्व का परदा तो नहीं हटा रहा है ? क्यों विजया ! वैभव का अभाव तुम्हें खटकने तो नहीं लगा ?

विजया—राजकुमारी ! तुम तो निर्दय वाक्यबाणों का प्रयोग कर रही हो।

देवसेना—नहीं विजया, बात ऐसी है। धनवानों के हाथ में माप ही एक है। वह विद्या, सौन्दर्य्य, बल, पवित्रता, और तो क्या, हृदय भी उसीसे मापते हैं। वह माप है—उनका ऐश्वर्य्य।

विजया—परन्तु राजकुमारी! इस उदार दृष्टि से तो चक्रपालित क्या पुरुष नहीं है? है अवश्य। वीर हृदय है, प्रशस्त वक्ष है, उदार मुखमंडल है!

देवसेना—और सबसे अच्छी एक बात है। तुम समझती हो कि वह महत्त्वाकांक्षी है। उसे तुम अपने वैभव से क्रय कर सकती हो, क्यों? भाई, तुमको लेना है, तुम स्वयं समझ लो, मेरी दलाली नहीं चलेगी।

विजया—जाओ राजकुमारी!

देवसेना—एक गाना सुनोगी?

विजया—महारानी खोजती होंगी, अब चलना चाहिये।

देवसेना—तब तुम अभी प्रेम करने का, मनुष्य फँसाने का, ठीक सिद्धांत नहीं जानती हो।

विजया—क्या?

देवसेना—नये ढंग के आभूषण, सुन्दर वसन, भरा हुआ यौवन—यह सब तो चाहिये ही, परन्तु एक वस्तु और चाहिये। सुपुरुष को वशीभूत करने के पहले चाहिये एक धोखे की टट्टी। मेरा तात्पर्य्य है—एक वेदना अनुभव करने का, एक विह्वलता का, अभिनय उसके मुख पर रहे—जिससे कुछ आड़ी-तिरछी रेखाएँ मुख पर पड़ें, और मूर्ख मनुष्य उन्हीं को पढ़ लेने के लिये

व्याकुल हो जाय। और फिर दो बूँद गरम-गरम आँसू, और इसके बाद एक तान वागीश्वरी की—करुण-कोमल तान। बिना इसके सब रंग फीका—

विजया—उस समय भी गान ?

देवसेना—बिना गान के कोई कार्य्य नहीं। विश्व के प्रत्येक कम्प मे एक ताल है। आहा! तुमने सुना नहीं ? दुर्भाग्य तुम्हारा। सुनोगी ?

विजया—राजकुमारी! गाने का भी रोग होता है क्या ? हाथ को ऊँचे-नीचे हिलाना, मुँह बनाकर एक भाव प्रकट करना, फिर सिर को इस ज़ोर से हिला देना जैसे उस तान से शून्य मे एक हिलोर उठ गई!

देवसेना—विजया! प्रत्येक परमाणु के मिलन मे एक सम है, प्रत्येक हरी-हरी पत्ती के हिलने मे एक लय है। मनुष्य ने अपना स्वर विकृत कर रक्खा है, इसीसे तो उसका स्वर विश्व-वीणा में शीघ्र नहीं मिलता। पांडित्य के मारे जब देखो, जहाँ देखो, बेताल-बेसुरा बोलेगा। पक्षियों को देखो, उनकी 'चहचह' 'कलकल' 'छलछल' मे, काकली में, रागिनी है।

विजया—राजकुमारी, क्या कह रही हो ?

देवसेना—तुमने एकांत टीले पर, सबसे अलग, शरद के सुन्दर प्रभात में फूला हुआ, फूलों से लदा हुआ, पारिजात-वृक्ष देखा है ?

विजया—नहीं तो।

देवसेना—उसका स्वर अन्य वृक्षों से नहीं मिलता। वह

अकेले अपने सौरभ की तान से दक्षिण-पवन में कम्प उत्पन्न करता है, कलियों को चटकाकर ताली बजाकर, झूम-झूमकर नाचता है। अपना नृत्य, अपना संगीत, वह स्वयं देखता है—सुनता है। उसके अंतर में जीवन-शक्ति वीणा बजाती है। वह बड़े कोमल स्वर में गाता है—

घने प्रेम-तरु-तले
बैठ छाँह लो भव-आतप से तापित और जले
छाया है विश्वास की श्रद्धा-सरिता-कूल
सिंची आँसुओं से मृदुल है परागमय धूल
यहाँ कौन जो छले
फूल चू पड़े बात से भरे हृदय का घाव
मन की कथा व्यथा-भरी बैठो सुनते जाव
कहाँ जा रहे चले
पी लो छवि-रस-माधुरी सींचो जीवन-बेल
जी लो सुख से आयु-भर यह माया का खेल
मिलो स्नेह से गले
घने प्रेम-तरु-तले

(बन्धुवर्म्मा का प्रवेश)

देवसेना—(संकुचित होती-सी) अरे, भइया—

बंधुवर्म्मा—देवसेना, तुझे गाने का भी विचित्र रोग है!

देवसेना—रोग तो एक-न-एक सभी को लगा है। परन्तु यह रोग अच्छा है, इससे कितने रोग अच्छे किये जा सकते हैं।

बंधुवर्म्मा—पगली! जा देख, युवराज जा रहे हैं; कुसुमपुर से कोई समाचार आया है।

देवसेना—तब उन्हें जाना आवश्यक होगा। भाभी बुलाती हैं क्या ?

बंधुवर्म्मा—हाँ, उनकी विदाई करनी होगी। संभवतः सिंहासन पर बैठने का—राज्याभिषेक का प्रकरण होगा।

देवसेना—क्या आपको ठीक नहीं मालूम'?

बंधुवर्म्मा—नही तो; मुझसे कुछ कहा नहीं। परन्तु भौंहों के नीचे एक गहरी छाया है, बात कुछ समझ मे नहीं आती।

देवसेना—भइया, तुम लोगों के पास बातें छिपा रखने का एक भारी रहस्य है। जी खोलकर कह देने में पुरुषों की मर्य्यादा घटती है। जब तुम्हारा हृदय भीतर से क्रंदन करता है, तब तुम लोग एक मुस्कराहट से उसे टाल देते हो—यह बड़ी प्रवञ्चना है।

बंधुवर्म्मा—(हँसकर) अच्छा जा उधर, उपदेश मत दे।

(विजया और देवसेना जाती हैं)

बंधुवर्म्मा—उदार-वीर-हृदय, देवोपम-सौन्दर्य्य, इस आर्य्यावर्त्त का एकमात्र आशा-स्थल इस युवराज का विशाल मस्तक कैसी वक्र लिपियों से अङ्कित है! अंतःकरण में तीव्र अभिमान के साथ विराग है। आँखों में एक जीवन-पूर्ण ज्योति है। भविष्य के साथ इसका युद्ध होगा, देखूँ कौन विजयी होता है। परन्तु मैं प्रतिज्ञा करता हूँ कि अब से इस वीर परोपकारी के लिये मेरा सर्वस्व अर्पित है। चलूँ—

[जाता है]

[मठ में प्रपंचबुद्धि, भटार्क और शर्वनाग]

प्रपंच०—बाहर देख लो, कोई है तो नहीं।

(शर्व जाकर लौट आता है)

शर्व०—कोई नहीं, परन्तु आप इतना चौंकते क्यों हैं? मैं तो कभी यह चिन्ता नहीं करता कि कौन आया है या आवेगा।

प्रपंच०—तुम नहीं जानते।

शर्व०—नहीं श्रमण! मैं खड्ग हाथ मे लिए प्रत्येक भविष्यत् की प्रतीक्षा करता हूँ। जो कुछ होगा, वही निबटा लेगा। इतने डर की, घबराहट की, आवश्यकता नहीं। विश्वास करना और देना, इतने ही लघु व्यापार से संसार की सब समस्याएँ हल हो जायँगी।

प्रपंच०—प्रत्येक भित्ति के किवाड़ों के कान होते हैं; समझ लेना चाहिये, देख लेना चाहिये।

शर्व०—अच्छी बात है, कहिये।

भटार्क—तुम पहले चुप तो रहो।

(शर्व चुप रहने की मुद्रा बनाता है)

प्रपंच०—धर्म्म की रक्षा करने के लिये प्रत्येक उपाय से काम लेना होगा।

शर्व०—भिक्षु-शिरोमणे! वह कौन-सा धर्म्म है, जिसकी हत्या हो रही है?

प्रपंच०—यही हत्या रोकना, अहिंसा, गौतम का धर्म्म है। यज्ञ की बलियों को रोकना, करुणा और सहानुभूति की प्रेरणा से कल्याण का प्रचार करना। हाँ, अवसर ऐसा है कि हम वह

काम भी करें जिससे तुम चौंक उठो। परन्तु नहीं, वह तो तुम्हें करना ही होगा।

भटार्क—क्या ?

प्रपंच०—महादेवी देवकी के कारण राजधानी में विद्रोह की संभावना है, उन्हें संसार से हटाना होगा।

शर्व०—ठीक है, तभी आप चौंकते हैं, और तभी धर्म की रक्षा होगी। हत्या के द्वारा हत्या का निषेध कर लेंगे—क्यों ?

भटार्क—ठहरो शर्व ! परन्तु महास्थविर ! क्या इसकी अत्यंत आवश्यकता है ?

प्रपंच०—नितांत।

शर्व०—बिना इसके काम ही न चलेगा, धर्म्म हो न प्रचारित होगा !

प्रपंच०—और यह काम शर्व को करना होगा।

शर्व०—(चौंककर) मुझे ? मैं कदापि नहीं ...

भटार्क—शीघ्रता न करो शर्व ! भविष्यत के सुखों से इसकी तुलना करो।

शर्व०—नाप-तौल मैं नहीं जानता, मुझे शत्रु दिखा दो। मैं भूखे भेड़िये की भांति उसका रक्तपान कर लूँगा, चाहे मैं ही क्यों न मारा जाऊँ ; परन्तु निरीह हत्या—यह मुझसे नहीं ......

भटार्क—मेरी आज्ञा।

शर्व०—तुम सैनिक हो, उठाओ तलवार। चलो, दो सहस्र शत्रुओं पर हम दो मनुष्य आक्रमण करें। देखें, मरने से कौन

भागता है। कायरता! अबला महादेवी की हत्या! किस प्रलोभन में तुम पिशाच बन रहे हो?

भटार्क—सावधान शर्व! इस चक्र से तुम नहीं निकल सकते। या तो करो या मरो। मैं सज्जनता का स्वांग नहीं ले सकता, मुझे वह नहीं भाता। मुझे कुछ लेना है, वह जैसे मिलेगा—लूँगा। साथ दोगे तो तुम भी लाभ में रहोगे।

शर्व०—नहीं भटार्क! लाभ ही के लिये मनुष्य सब काम करता, तो पशु बना रहना ही उसके लिये पर्याप्त था। मुझसे यह काम नहीं होने का!

प्रपंच०—ठहरो भटार्क! मुझे पूछने दो। क्यों शर्व! तुमने जो यह अस्वीकार किया है, वह क्यों? पाप समझकर?

शर्व०—अवश्य।

प्रपंच०—तुम किसी कर्म्म को पाप नहीं कह सकते, वह अपने नग्न रूप में पूर्ण है, पवित्र है। संसार ही युद्धक्षेत्र है, इसमें पराजित होकर शस्त्र अर्पण करके जीने से क्या लाभ? तुम युद्ध में हत्या करना धर्म्म समझते हो, परन्तु दूसरे स्थल पर अधर्म्म?

शर्व०—हाँ।

प्रपंच०—मार डालना, प्राणी का अन्त कर देना, दोनों स्थलों में एक-सा है, केवल देश और काल का भेद है। यही न?

शर्व०—हाँ, ऐसा ही तो।

प्रपंच०—तब तुम स्थान और समय की कसौटी पर कर्म्म को परखते हो, इसीसे कर्म्म के अच्छे और बुरे होने की जाँच करते हो।

शर्व०—दूसरा उपाय क्या ?

प्रपंच०—है क्यों नहीं। हम कर्म की जाँच परिणाम से करते हैं, और यही उद्देश तुम्हारे स्थान और समयवाली जाँच का होगा।

शर्व०—परन्तु जिसके भावी परिणाम को अभी तुम देख न सके, उसके बल पर तुम कैसे पूर्व कार्य्य कर सकते हो ?

प्रपंच०—आशा पर, जो सृष्टि का रहस्य है। आओ इसका एक प्रत्यक्ष उदाहरण दें। (मदिरा का पात्र भरता है, स्वयं पीकर सबको पिलाता है; बार-बार ऐसा करता है।)

प्रपंच०—क्यों, कैसी कड़वी थी ?

शर्व०—उँह, हृदय तक लकीर खिंच गई !

भटार्क—परन्तु अब तो एक आनन्द का स्रोत हृदय में बहने लगा है।

शर्व०—मैं नाचूँ ? (उठना चाहता है)

प्रपंच०—ठहरो, मेरे साथ।

(उठकर दोनों नाचते हैं, अकस्मात् लड़खड़ाकर प्रपंचबुद्धि गिर पड़ता है, चोट लगती है।)

भटार्क—अरेरे ! (सम्हलकर उठाता है)

प्रपंच०—कुछ चिन्ता नहीं।

शर्व०—बड़ी चोट आई।

प्रपंच०—परन्तु परिणाम अच्छा हुआ। तुम लोगों पर भारी विपत्ति आनेवाली थी।

भटार्क—वह टल गई क्या ? (आश्चर्य से देखता है)

शर्व०—क्यों सेनापति ! टल गई ?

प्रपंच०—उस विपत्ति का निवारण करने के लिये ही मैंने यह कष्ट सहा। मै तुम लोगों के भूत, भविष्य और वर्तमान का नियामक, रक्षक और द्रष्टा हूँ। जाओ, अब तुम लोग निर्भय हो।

भटार्क—धन्य गुरुदेव !

शर्व०—आश्चर्य्य !

भटार्क—शंका न करो, श्रद्धा करो ; श्रद्धा का फल मिलेगा। शर्व ! अब भी तुम विश्वास नहीं करते ?

शर्व०—करता हूँ। जो आज्ञा होगी वही करूँगा।

प्रपंच०—अच्छी बात है, चलो—

(सब जाते हैं, धातुसेन का प्रवेश)

धातुसेन—मै अभी यहीं रह गया, सिंहल नहीं गया। इस रहस्यपूर्ण अभिनय को देखने की इच्छा बलवती हुई। परन्तु मुद्गल तो अभी नहीं आया, यहीं तो आने को था। (देखता है) लो, वह आ गया !

मुद्गल—क्यों भइया, तुम्हीं धातुसेन हो ?

धातु०—(हँसकर) पहचानते नहीं ?

मुद्गल—किसीकी धातु पहचानना बड़ा असाधारण कार्य्य है। तुम किस धातु के हो ?

धातु०—भाई, सोना अत्यंत घन होता है, बहुत शीघ्र गरम होता है, और हवा लग जाने से शीतल हो जाता है। मूल्य भी बहुत लगता है। इतने पर भी सिर पर बोझ-सा रहता है। मैं

सोना नहीं हूँ, क्योंकि उसकी रक्षा के लिये भी एक धातु की आवश्यकता होती है, वह है 'लोहा'।

मुद्गल—तब तुम लोहे के हो ?

धातु०—लोहा बड़ा कठोर होता है। कभी-कभी वह लोहे को भी काट डालता है। उहूँ, भाई ! मैं तो मिट्टी हूँ—मिट्टी, जिसमें से सब निकलते हैं। मेरी समझ में तो मेरे शरीर की धातु मिट्टी है, जो किसीके लोभ की सामग्री नहीं, और वास्तव में उसी-के लिये सब धातु अस्त्र बनकर चलते हैं, लड़ते है, जलते हैं, टूटते हैं, फिर मिट्टी होते हैं ! इसलिये मुझे मिट्टी समझो—धूल समझो। परन्तु यह तो बताओ, महादेवी की मुक्ति के लिये क्या उपाय सोचा ?

मुद्गल—मुक्ति का उपाय ! अरे ब्राह्मण की मुक्ति भोजन करते हुए मरने में, बनियों की दिवालों की चोट से गिर जाने में, और शूद्रों की—हम तीनों की ठोकरों से मुक्ति-ही-मुक्ति है। महादेवी तो क्षत्राणी है, संभवतः उनको मुक्ति शस्त्र से होगी।

धातु०—तुमने ठीक सोचा। आज अर्द्धरात्रि में, कारागार में।

मुद्गल—कुछ चिन्ता नहीं, युवराज आ गये हैं।

धातु०—मैं भी प्रस्तुत रहूँगा।

(दोनों जाते हैं)

[पट-परिवर्तन]

[देवकी के राजमन्दिर का बाहरी भाग]

(मदिरोन्मत्त शर्वनाग का प्रवेश)

शर्व०—कादम्ब, कामिनी, कञ्चन—वर्णमाला के पहले अक्षर ! करना होगा, इन्हीं के लिये कर्म्म करना होगा। मनुष्य को यदि इन कवर्गों की चाट नहीं तो कर्म्म क्यों करे ? 'कर्म्म' में एक 'कु' और जोड़ दें। लो, अच्छी वर्णमैत्री होगी !

कादम्ब ! ओह प्यास ! (प्याले से मदिरा उड़ेलता है) लाल—यह क्या रक्त ? आह ! कैसी भीषण कमनीयता है ! लाल मदिरा लाल नेत्रों से लाल-लाल रक्त देखना चाहती है। किसका ? एक प्राणी का, जिसके कोमल मांस में रक्त मिला हो । अरेरे, नहीं, दुर्बल नारी। ऊँह, यह तेरी दुर्बलता है। चल अपना काम देख, देख—सामने सोने का संसार खड़ा है !

(रामा का प्रवेश)

रामा—पामर ! सोने की लंका राख हो गई।

शर्व०—उसमें मदिरा न रही होगी सुंदरी !

रामा—मदिरा का समुद्र उफनकर बह रहा था—मदिरा-समुद्र के तट पर ही लंका बसी थी !

शर्व०—तब उसमें तुम-जैसी कोई कामिनी न होगी। तुम कौन हो—स्वर्ग की अप्सरा या स्वप्न की चुड़ैल ?

रामा—स्त्री को देखते ही ढिलमिल हुए, आँखें फाड़कर देखते हैं—जैसे खा जायँगे ! मैं कोई हूँ !

शर्व०—सुंदरी ! यह तुम्हारा ही दोष है। तुम लोगों का वेश-विन्यास, आँखों की लुका-चोरी, अंगों का सिमटना, चलने में

एक क्रीड़ा, एक कौतूहल, पुकारकर—टोककर कहते है—"हमें देखो !" हम क्या करें, देखते ही बनता है !

रामा—दुर्वृत्त मद्यप ! तू अपनी स्त्री को भी नही पहचानता है—परस्त्री समझकर उसे छेड़ता है !

शर्व०—(सम्हलकर) अयँ ! अरे ओह ! मेरी रामा, तुम हो ?

रामा०—हाँ, मैं हूँ।

शर्व०—(हँसकर) तभी तो मैं तुमको जानकर ही बोला, नहीं भला मैं किसी परस्त्री से—(जीभ निकालकर कान पकड़ता है)

रामा—अच्छा, यह तो बताओ, कादम्ब पीना कहाँ से सीखा है ? और यह क्या बकते थे ?

शर्व०—अरे प्रिये ! तुमसे न कहूँगा तो किससे कहूँगा, सुनो-

रामा—हाँ-हाँ, कहो।

शर्व०—तुमको रानी बनाऊँगा।

रामा—(चौंककर) क्या ?

शर्व०—तुम्हें सोने से लाद दूँगा।

रामा—किस तरह ?

शर्व०—वह भी बतला दूँ ? तुम नित्य कहती आती हो कि "तू निकम्मा है, अपदार्थ है, कुछ नहीं है"—तो मैं कुछ कर दिखाना चाहता हूँ !

रामा—अरे कहो भी।

शर्व०—वह पीछे बताऊँगा। आज तुम महादेवी के बंदीगृह में न जाना, समझा न ?

रामा—(उत्सुकता से) क्यों ?

शर्व०—सोना लेना हो, मान लेना हो, तो ऐसा ही करना; क्योंकि आज वहाँ जो कांड होगा, तुम उसे देख न सकोगी। तुम अभी इसी स्थान से लौट जाओ !

रामा—(डरती हुई) क्या करोगे ? तुम पिशाच की दुष्कामना से भी भयानक दिखाई देते हो ! तुम क्या करोगे ? बोलो।

शर्व०—(मद्यपान करता हुआ) हत्या ! थोड़ी-सी मदिरा दे, शीघ्र दे, नहीं तो छुरा भोंक दूँगा । ओह, मेरा नशा उखड़ा जा रहा है।

रामा—आज तुम्हें क्या हो गया है ! मेरे स्वामी ! मेरे ......

शर्व०—अभी मैं तेरा कुछ नहीं हूँ। सोना मिलने से हो जाऊँगा, इसीका उद्योग कर रहा हूँ।

(इधर-उधर देखकर, बगल से सुराही निकालकर पीता है)

रामा—ओह ! मैं समझ गई ! तूने बेच दिया—पिशाच के हाथ तूने अपने को बेच दिया। अहा ! ऐसा सुन्दर, ऐसा मनुष्योचित मन, कौड़ी के मोल बेच दिया। लोभ-वश मनुष्य से पशु हो गया है। रक्त-पिपासु ! क्रूरकर्म्मा मनुष्य ! कृतघ्नता की कीच का कीड़ा ! नरक की दुर्गंध ! तेरी इच्छा कदापि पूर्ण न होने दूँगी। मेरे रक्त के प्रत्येक परमाणु में जिसकी कृपा की शक्ति है, जिसके स्नेह का आकर्षण है, उसके प्रतिकूल आचरण ! वह मेरा पति तो क्या, स्वयं ईश्वर भी हो, नहीं करने पावेगा।

शर्व०—क्या तूँ—ओ—तूँ···

रामा—हाँ-हाँ, मैं न होने दूँगी। मुझे ही मार ले हत्यारे! मद्यप! तेरी रक्त-पिपासा शान्त हो जाय। परन्तु महादेवी पर हाथ लगाया तो मैं पिशाचिनी-सी प्रलय की काली आँधी बनकर कुचक्रियों के जीवन की काली राख अपने शरीर में लपेटकर तांडव नृत्य करूँगी! मान जा, इसीमें तेरा भला है।

शर्व०—अच्छा, तू इसमें विघ्न डालेगी। तू तो क्या, विघ्नों का पहाड़ भी होगा तो ठोकरों से हटा दिया जायगा। मुझे सोना और सम्मान मिलने में कौन बाधा देगा?

रामा—मैं दूँगी। सोना मैं नहीं चाहती, मान मैं नहीं चाहती, मुझे अपना स्वामी अपने उसी मनुष्य-रूप में चाहिये। (पैर पड़ती है) स्वामी! हिंस्र पशु भी जिनसे पाले जाते हैं, उनपर चोट नहीं करते; अरे तुम तो मस्तिष्क रखनेवाले मनुष्य हो।

शर्व०—(ठुकरा देता है) जा, तू हट जा, नही तो मुझे एक के स्थान पर दो हत्याएँ करनी पड़ेंगी! मैं प्रतिश्रुत हूँ, वचन दे चुका हूँ!

रामा—(प्रार्थना करती हुई) तुम्हारा यह झूठा सत्य है। ऐसी प्रतिज्ञाओं का पालन सत्य नहीं कहा जा सकता; ऐसे धोखे के सत्य लेकर ही संसार में पाप और असत्य बढ़ते हैं। स्वामी! मान जाओ।

शर्व०—ओह, विलंब होता है, तो पहले तू ही ले—(पकड़ना और मारना चाहता है; रामा शीघ्रता से हाथ छुड़ाकर भाग जाती है।)

(अनंतदेवी, प्रपंचबुद्धि और भटार्क का प्रवेश)

भटार्क—शर्व !

शर्व०—जय हो ! मै प्रस्तुत हूँ; परंतु मेरी स्त्री इसमे बाधा डालना चाहती है। मैं पहले उसीको पकड़ना चाहता था, परंतु वह भगी।

अनंतदेवी—सौगन्द है ! यदि तू विश्वासघात करेगा तो कुत्तों से नुचवा दिया जायगा।

प्रपंच०—शर्व ! तुम तो स्त्री नहीं हो।

शर्व०—नहीं, मैं प्रतिश्रुत हूँ। परंतु......

भटार्क—तुम्हारी पद-वृद्धि और पुरस्कार का प्रमाण-पत्र यह प्रस्तुत है। (दिखाता है) काम हो जाने पर—

शर्व०—तब शीघ्र चलिये, दुष्टा रामा भीतर पहुँच गई होगी।

[सब जाते हैं]

[बंदीगृह में देवकी और रामा]

रामा—महादेवी ! मैं लज्जा के गर्त्त में डूब रही हूँ। मुझे कृतज्ञता और सेवा-धर्म्म धिक्कार दे रहे हैं। मेरा स्वामी......

देवकी—शांत हो रामा ! बुरे दिन कहते किसे हैं? जब स्वजन लोग अपने शील-शिष्टाचार का पालन करें—आत्म-समर्पण, सहानुभूति, सत्पथ का अवलम्बन करें, तो दुर्दिन का साहस नहीं कि उस कुटुम्ब की ओर आँख उठाकर देखे। इसलिये इस कठोर समय में भगवान की स्निग्ध करुणा का शीतल ध्यान कर।

रामा—महादेवी ! परन्तु आपकी क्या दशा होगी ?

देवकी—मेरी दशा ? मेरी लाज का बोझ उसीपर है जिसने वचन दिया है, जिस विपद्-भंजन की असीम दया अपना स्निग्ध अञ्चल सब दुखियों के आँसू पोंछने के लिये सदैव हाथ में लिए रहती है।

रामा—परन्तु उसने पिशाच का प्रतिनिधित्व ग्रहण किया है, और···

देवकी—न घबरा रामा ! एक पिशाच नहीं, नरक के असंख्य दुर्दान्त प्रेत और क्रूर पिशाचों का त्रास और उनकी ज्वाला दयामय की कृपादृष्टि के एक बिन्दु से शान्त होती है।

(नेपथ्य से गाना)

पालना बनें प्रलय की लहरें
शीतल हो ज्वाला की आँधी
करुणा के घन छहरें

दया दुलार करे पल भर भी
विपदा पास न ठहरे
प्रभु का हो विश्वास सत्य तो
सुख का केतन फहरे

(भटार्क आदि के साथ अनंतदेवी का प्रवेश)

अनंत०—परन्तु व्यंग की विषज्वाला रक्त-धारा से भी नहीं बुझती देवकी ! तुम मरने के लिये प्रस्तुत हो जाओ ।

देवकी—क्या तुम मेरी हत्या करोगी ?

प्रपंचबुद्धि—हाँ। सद्धर्म्म का विरोधी, हिमालय की निर्जन ऊँची चोटी तथा अगाध समुद्र के अंतस्तल में भी, नहीं बचने पावेगा; और उस महाबलिदान का आरम्भ तुम्हीं से होगा। शर्व ! आगे बढ़ो ।

रामा—एक शर्व नहीं, तुम्हारे-जैसे सैकड़ों पिशाच भी यदि जुटकर आवें, तो आज महादेवी का अंगस्पर्श कोई न कर सकेगा ।

(छुरी निकालती है)

शर्व—मैं तेरा स्वामी हूँ रामा ! क्या तू मेरी हत्या करेगी ?

रामा—ओह ! बड़ी धर्म्मबुद्धि जगी है पिशाच को, और यह महादेवी तेरी कौन है ?

शर्व०—फिर भी मैं तेरा……

रामा—स्वामी ? नहीं-नहीं, तू मेरे स्वामी की नरक-निवासिनी प्रेतात्मा है। तेरी हत्या कैसी—तू तो कभी का मर चुका है।

देवकी—शांत हो रामा ! देवकी अपने रक्त के बदले और

किसीका रक्त नहीं गिराना चाहती। चल रे रक्त के प्यासे कुत्ते! चल, अपना काम कर।

(शर्व आगे बढ़ता है)

अनंतदेवी—क्यों देवकी! राजसिंहासन लेने की स्पर्धा क्या हुई?

देवकी—परमात्मा की कृपा है कि मैं स्वामी के रक्त से कलुषित सिंहासन पर न बैठ सकी।

भटार्क—भगवान का स्मरण कर लो।

देवकी—मेरे अंतर की करुण कामना एक थी कि 'स्कंद' को देख लूँ। परन्तु तुम लोगों से, हत्यारों से, मैं उसके लिये भी प्रार्थना न करूँगी। प्रार्थना उसी विश्वम्भर के श्रीचरणों में है; जो अपनी अनंत दया का अभेद्य कवच पहनाकर मेरे स्कन्द को सदैव सुरक्षित रक्खेगा।

शर्व—अच्छा तो (खड्ग उठाता है, रामा सामने आकर खड़ी हो जाती है) हट जा अभागिनी!

रामा—मूर्ख! अभागा कौन है? जो संसार के सबसे पवित्र धर्म्म कृतज्ञता को भूल जाता है, और भूल जाता है कि सबके ऊपर एक अटल अदृष्ट का नियामक सर्वशक्तिमान् है; वह या मैं?

शर्व०—कहता हूँ कि अपनी लोथ मुझे पैरों से न ठुकराने दे!

रामा—टुकड़े का लोभी! तू सती का अपमान करे, यह तेरी स्पर्धा? तू कीड़ो से भी तुच्छ है। पहले मैं मरूँगी, तब महादेवी।

अनन्त०—(क्रोध से) तो पहले इसीका अंत करो शर्व ! शीघ्रता करो।

शर्व०—अच्छा तो वही होगा। (प्रहार करने पर उद्यत होता है)

(किवाड़ तोड़कर स्कंद भीतर घुस आता है—पीछे मुद्गल और धातुसेन। आते ही शर्वनाग की गर्दन दबाकर तलवार छीन लेता है।)

स्कंद०—(भटार्क से) क्यों रे नीच पशु ! तेरी क्या इच्छा है ?

भटार्क—राजकुमार ! वीर के प्रति उचित व्यवहार होना चाहिये।

स्कंद—तू वीर है ? अर्द्धरात्रि में निस्सहाय अबला महादेवी की हत्या के उद्देश से घुसनेवाला चोर ! तुझे भी वीरता का अभिमान है ? तो द्वंद्व-युद्ध के लिये आमंत्रित करता हूँ—बचा अपनेको !

(भटार्क दो-एक हाथ चलाकर घायल होकर गिरता है।)

स्कंद०—मेरी सौतेली माँ ! तुम ··?

अनंत०—स्कंद ! फिर भी मै तुम्हारे पिता की पत्नी हूँ।

(घुटनों के बल बैठकर हाथ जोड़ती हुई)

स्कंद०—अनंतदेवी ! कुसुमपुर में पुरगुप्त को लेकर चुपचाप बैठी रहो। जाओ—मै स्त्री पर हाथ नहीं उठाता, परन्तु सावधान ! विद्रोह की इच्छा न करना, नहीं तो क्षमा असम्भव है।

" अहा ! मेरी माँ ! "

देवकी—(आलिंगन करके) आओ मेरे वत्स !

[अवन्ती-दुर्ग का एक भाग; बंधुवर्मा, भीमवर्मा और जयमाला का प्रवेश]

बंधुवर्म्मा—वत्स भीम ! बोलो, तुम्हारी क्या सम्मति है ?

भीम०—तात ! आपकी इच्छा; मैं आपका अनुचर हूँ।

जयमाला—परन्तु इसकी आवश्यकता ही क्या है ? उनका इतना बड़ा साम्राज्य है, तब भी क्या मालव ही के बिना काम न चलेगा ?

बंधु०—देवी ! केवल स्वार्थ देखने का अवसर नहीं है। यह ठीक है कि शकों के पतन-काल में पुष्करणाधिपति स्वर्गीय महाराज सिंहवर्म्मा ने एक स्वतंत्र राज्य स्थापित किया, और उनके वंशधर ही उस राज्य के स्वत्वाधिकारी हैं; परन्तु उस राज्य का ध्वंस हो चुका था, म्लेच्छों की सम्मिलित वाहिनी उसे धूल में मिला चुकी थी; उस समय तुम लोगों को केवल आत्म-हत्या का ही अवलम्ब निःशेष था, तब इन्हीं स्कंदगुप्त ने रक्षा की थी; यह राज्य अब न्याय से उन्हीं का है।

भीम०—परन्तु क्या वे माँगते हैं ?

बंधु०—नहीं भीम ! युवराज स्कंदगुप्त ऐसे क्षुद्र हृदय के नहीं; उन्होंने पुरगुप्त को इस जघन्य अपराध पर भी मगध का शासक बना दिया है। वह तो सिंहासन भी नहीं लेना चाहते।

जयमाला—परन्तु तुम्हारा मालव उन्हे प्रिय है !

बंधु०—देवी, तुम नहीं देखती हो कि आर्य्यावर्त्त पर विपत्ति की प्रलय-मेघमाला घिर रही है; आर्य्य साम्राज्य के अन्तर्विरोध और दुर्बलता को आक्रमणकारी भलीभांति जान गये हैं। शीघ्र ही देशव्यापी युद्ध की संभावना है। इसलिये यह

मेरी ही सम्मति है कि साम्राज्य की सुव्यवस्था के लिये, आर्य्य-राष्ट्र के त्राण के लिये, युवराज उज्जयिनी में रहें; इसीमें सबका कल्याण है। आर्य्यावर्त्त का जीवन केवल स्कंदगुप्त के कल्याण से है। और, उज्जयिनी में साम्राज्याभिषेक का अनुष्ठान होगा, सम्राट होंगे स्कंदगुप्त।

जयमाला—आर्य्यपुत्र ! अपना पैतृक राज्य इस प्रकार दूसरों के पदतल में निस्संकोच अर्पित करते हुए हृदय काँपता नहीं है ? क्या फिर उन्हीं की सेवा करते हुए दास के समान जीवन व्यतीत करना होगा ?

बंधु०—(सिर झुकाकर सोचते हुए) तुम कृतघ्नता का समर्थन करोगी, वैभव और ऐश्वर्य्य के लिये ऐसा कदर्य्य प्रस्ताव करोगी, इसका मुझे स्वप्न में भी ध्यान न था !

जयमाला—यदि होता ?

बंधु०—तब मैं इस कुटुम्ब की कमनीय कल्पना को दूर ही से नमस्कार करता और आजीवन अविवाहित रहता। क्षत्रिये ! जो केवल खड्ग का अवलंब रखनेवाले हैं—सैनिक हैं, उन्हें विलास की सामग्रियों का लोभ नहीं रहता। सिंहासन पर, मुलायम गद्दों पर लेटने के लिये या अकर्म्मण्यता और शरीर-पोषण के लिये क्षत्रियों ने लोहे को अपना आभूषण नहीं बनाया है।

भीम०—भइया ! तब ?

बंधु०—भीम ! क्षत्रियों का कर्त्तव्य है—आर्त्त-त्राण-परायण होना, विपद का हँसते हुए आलिंगन करना, विभीषि-

काओं की मुसक्या कर अवहेला करना, और—और विपन्नों के लिये, अपने धर्म्म के लिये, देश के लिये प्राण देना !

(देवसेना का सहसा प्रवेश)

देवसेना—भाभी ! सर्वात्मा के स्वर में, आत्म-समर्पण के प्रत्येक ताल में, अपने विशिष्ट व्यक्तित्व का विस्मृत हो जाना—एक मनोहर संगीत है। क्षुद्र स्वार्थ, भाभी, जाने दो; भइया को देखो—कैसा उदार, कैसा महान् और कितना पवित्र !

जयमाला—देवसेना ! समष्टि में भी व्यष्टि रहता है। व्यक्तियो से ही जाति बनती है। विश्वप्रेम, सर्वभूत-हित-कामना परम धर्म है; परन्तु इसका अर्थ यह नहीं हो सकता कि अपने पर प्रेम न हो। इस अपने ने क्या अन्याय किया है जो इसका वहिष्कार हो ?

बंधु०—ठहरो जयमाला ! इसी क्षुद्र ममत्व ने हमको दुष्ट भावना की ओर प्रेरित किया है, इसीसे हम स्वार्थ का समर्थन करते हैं। इसे छोड़ दो जयमाला ! इसके वशीभूत होकर हम अत्यन्त पवित्र वस्तुओं से बहुत दूर होते जाते हैं। बलिदान करने के योग्य वह नहीं, जिसने अपना आपा नहीं खोया।

भीम—भाभी ! अब तर्क न करो। समस्त देश के कल्याण के लिये—एक कुटुम्ब की भी नहीं, उसके क्षुद्र स्वार्थों की बलि होने दो। भाभी ! हृदय नाच उठा है, जाने दो इस नीच प्रस्ताव को। देखो—हमारा आर्य्यावर्त्त विपन्न है, यदि हम मर-मिटकर भी इसकी कुछ सेवा कर सकें......

जयमाला—जब सभी लोगों की ऐसी इच्छा है, तब मुझे क्या।

बंधु०—तब मालवेश्वरी की जय हो! तुम्हीं इस सिंहासन पर बैठो। बंधुवर्मा तो आज से आर्य्य-साम्राज्य-सेना का एक साधारण पदातिक सैनिक है। तुम्हें तुम्हारा ऐश्वर्य्य सुखद हो।

(जाना चाहता है)

भीम०—ठहरो भइया, हम भी चलते है।

चक्रपालित—(प्रवेश करके)—धन्य वीर! तुमने क्षत्रिय का सिर ऊँचा किया है। बंधुवर्मा! आज तुम महान् हो, हम तुम्हारा अभिनन्दन करते हैं। रण में, वन में, विपत्ति मे, आनन्द में, हम सब समभागी होंगे। धन्य तुम्हारी जननी—जिसने आर्य्यराष्ट्र का ऐसा शूर सैनिक उत्पन्न किया।

बंधु०—स्वागत चक्र! मालवेश्वरी की जय हो! अब हम सब सैनिक जाते हैं!

चक्र०—ठहरो बंधु! एक सुखद समाचार सुन लो। पिताजी का अभी-अभी पत्र आया है कि सौराष्ट्र के शकों को निर्मूल करके परम भट्टारक मालव के लिये प्रस्थान कर चुके है।

बंधु०—संभवतः महाराजपुत्र उत्तरापथ की सीमा की रक्षा करेंगे।

चक्र०—हाँ बंधु!

देवसेना—चलो भाई, मै भी तुम लोगों की सेवा करूँगी।

जयमाला—(घुटने टेककर) मालवेश्वर को जय हो ! प्रजा ने अपराध किया है, दंड दीजिये। पतिदेव ! आपकी दासी क्षमा माँगती है। मेरी आँखें खुल गईं। आज हमने जो राज्य पाया है, वह विश्व-साम्राज्य से भी ऊँचा है—महान् है। मेरे स्वामी और ऐसे महान् ! धन्य हूँ मैं······

[बंधुवर्मा सिर पर हाथ रखता है]

[पथ में भटार्क और उसकी माता]

कमला—तू मेरा पुत्र है कि नहीं ?

भटार्क—माँ ! संसार में इतना ही तो स्थिर सत्य है, और मुझे इतने ही पर विश्वास है। संसार के समस्त लांछनों का मैं तिरस्कार करता हूँ, किस लिये ? केवल इसीलिये कि तू मेरी माँ है, और वह जीवित है।

कमला—और मुझे इसका दुःख है कि मैं मर क्यों न गई ; मैं क्यों अपने कलङ्क-पूर्ण जीवन को पालती रही। भटार्क ! तेरी माँ को एक ही आशा थी कि पुत्र देश का सेवक होगा, म्लेच्छों से पददलित भारतभूमि का उद्धार करके मेरा कलङ्क धो डालेगा ; मेरा सिर ऊँचा होगा। परंतु हाय !

भटार्क—माँ ! तो तुम्हारी आशाओं को मैंने विफल किया ? क्या मेरी खड्गलता आग के फूल नहीं बरसाती ? क्या मेरे रण-नाद वज्र-ध्वनि के समान शत्रु के कलेजे नहीं कँपा देते ? क्या तेरे भटार्क का लोहा भारत के क्षत्रिय नहीं मानते ?

कमला—मानते है, इसीसे तो और ग्लानि है।

भटार्क—घर लौट चलो माँ ! ग्लानि क्यों है ?

कमला—इसलिये कि तू देशद्रोही है। तू राजकुल की शांति का प्रलय-मेघ बन गया, और तू साम्राज्य के कुचक्रियो मे से एक है। ओह ! नीच ! कृतघ्न !! कमला कलङ्किनी हो सकती है, परंतु यह नीचता, कृतघ्नता, उसके रक्त मे नहीं। (रोती है)

(विजया का प्रवेश)

विजया—माता ! तुम क्यों रो रही हो ? (भटार्क की ओर देख-

कर) और यह कौन है ? क्यों जी ! तुमने इस वृद्धा का क्यों अपमान किया है ?

कमला—देवी ! यह मेरा पुत्र था।

विजया—था ! क्या अब नहीं ?

कमला—नहीं, इसने महाबलाधिकृत होने की लालच में अपने हाथ-पैर पाप-शृंखला मे जकड़ दिये; अब फिर भी उज्जयिनी में आया है—किसी षड्यंत्र के लिये !

विजया—कौन, तुम महाबलाधिकृत भटार्क हो ? और तुम्हारी माता की यह दीन दशा !

कमला—ना बेटी ! उससे कुछ मत कहो, मैं स्वयं इसका ऐश्वर्य्य त्यागकर चली आई हूँ। महाकाल के मंदिर में भिक्षा-ग्रहण करके इसी उज्जयिनी मे पड़ी रहूँगी, परंतु इससे······

भटार्क—माँ ! अब और न लज्जित करो। चलो—घर चलूँ।

विजया—(स्वगत) अहा ! कैसी वीरत्व-व्यंजक मनोहर मूर्त्ति है ! और गुप्त-साम्राज्य का महाबलाधिकृत !

कमला—इस पिशाच ने छलना के लिये रूप बदला है। सम्राट का अभिषेक होनेवाला है, यह उसीमे कोई प्रपञ्च रचने आया है। मेरी कोई न सुनेगा, नहीं तो मै स्वयं इसे दंडनायक को समर्पित कर देती।

(सहसा मातृगुप्त, मुद्गल और गोविन्दगुप्त का प्रवेश)

"कौन ! भटार्क ? अरे यहाँ भी !!"

(भटार्क तलवार निकालता है, गोविन्दगुप्त उसके हाथ से तलवार छीन लेते हैं।)

मुद्गल—महाराजपुत्र गोविन्दगुप्त की जय !

गोविन्द०—कृतघ्न ! वीरता उन्माद नहीं है, आँधी नहीं है, जो उचित-अनुचित का विचार न करती हो। केवल शस्त्र-बल पर टिकी हुई वीरता बिना पैर की होती है। उसकी दृढ़ भित्ति है—न्याय। तू उसे कुचलने पर सिर ऊँचा उठाकर नहीं रह सकता। मातृगुप्त ! वन्दी करो इसे।

"और तुम कौन हो भद्रे ?"

कमला—मैं इस कृतघ्न की माता हूँ। अच्छा हुआ, मैं तो स्वयं यही विचार करती थी।

गोविन्द०—यह तो मैंने अपने कानों से सुना। धन्य हो देवी ! तुम-जैसी जननियाँ जब तक उत्पन्न होंगी, तब तक आर्य्य-राष्ट्र का विनाश असम्भव है।

"और यह युवती कौन है ?"

कमला—मुझे सहायता देती थी, कोई अभिजात कुल की कन्या है। इसका कोई अपराध नहीं।

मुद्गल—अरे राम ! यह भी अवश्य कोई भयानक स्त्री होगी !

मातृगुप्त—परंतु यह अपना कोई परिचय भी नहीं दे रही है !

विजया—मैं अपराधिनी हूँ; मुझे भी वंदी करो।

भटार्क—यह क्यों, इस युवती से तो मैं परिचित भी नहीं हूँ; इसका कोई अपराध नहीं।

विजया—(स्वगत) ओह ! इस आनंद-महोत्सव में मुझे कौन पूछता है, मै मालव में अब किस काम की हूँ ! जिसके भाई ने समस्त राज्य अर्पण कर दिया है—वह देवसेना और कहाँ मैं ! तब तो मेरा यही...(भटार्क की ओर देखती है)

गोविन्द०—भद्रे ! तुम अपना स्पष्ट परिचय दो ।

विजया—मैं अपराधिनी हूँ ।

मातृगुप्त—परंतु तुम्हारा और भी कोई परिचय है ?

विजया—यही कि मै वन्दी होने को अभिलाषिनी हूँ ।

कमला—वत्से ! तुम अकारण क्यों दुःख उठाती हो ?

विजया—मेरी इच्छा । मुझे बंदी कीजिये । मैं अपना परिचय न्यायाधिकरण में दूँगी । यहाँ मैं कुछ न कहूँगी । मेरा यहाँ अपमान किया जायगा तो आर्य्यराष्ट्र के नाम पर मैं तुम लोगों पर अभियोग लगाऊँगी ।

गोविंद०—क्यों भटार्क ! यदि तुम्हीं कुछ कहते—

भटार्क—मैं कुछ नही जानता कि यह कौन है । मुझे भी विलम्ब हो रहा है, शीघ्र न्यायाधिकरण में ले चलिये ।

मुद्गल—और वृद्धा कमला ?

गोविन्द०—वह बंदी नहीं है, परंतु एक बार स्कंद के समक्ष उसे चलना होगा ।

मातृगुप्त—तो फिर सब चलें, अभिषेक का समय भी समीप है ।

[सब जाते हैं]

[राजसभा]

(बंधुवर्मा, भीमवर्म्मा, मातृगुप्त तथा मुद्गल के साथ स्कंदगुप्त का एक ओर से और दूसरी ओर से गोविंदगुप्त का प्रवेश ।)

स्कन्द०—(बीच में खड़ा होकर) तात! कहाँ थे? इस बालक पर अकारण क्रोध करके कहाँ छिपे थे?

(चरण-वंदन करता है)

गोविन्द०—उठो वत्स! आर्य्य चन्द्रगुप्त को अनुपम प्रतिकृति! गुप्तकुल-तिलक! भाई से मैं रूठ गया था, परन्तु तुमसे कदापि नहीं; तुम मेरी आत्मा हो वत्स! (आलिङ्गन करता है। अनुचरियों के साथ देवकी का प्रवेश, स्कंद देवकी का चरणवन्दन करता है।)

देवकी—वत्स! चिरविजयी हो! देवता तुम्हारे रक्षक हों। महाराजपुत्र! इसे आशीर्वाद दीजिये कि गुप्तकुल के गुरुजनों के प्रति यह सदैव विनयशील रहे।

गोविन्द०—महादेवी! तुम्हारी कोख से पैदा हुआ यह रत्न, यह गुप्तकुल के अभिमान का चिन्ह, सदैव यशोभिर्मंडित रहेगा!

स्कन्द०—(बंधुवर्म्मा से) मित्र मालवेश! बढ़ो, सिंहासन पर बैठो! हम लोग तुम्हारा अभिनंदन करें।

(जयमाला और देवसेना का प्रवेश)

जयमाला—देव! यह सिंहासन आपका है, मालवेश का इसपर कोई अधिकार नहीं। आर्य्यावर्त्त के सम्राट् के अतिरिक्त अब दूसरा कोई मालव के सिंहासन पर नहीं बैठ सकता।

("मालव की जय हो !"—तुमुल ध्वनि)

बंधुवर्म्मा—(हँसकर) सम्राट् ! अब तो मालवेश्वरी ने स्वयं सिंहासन त्याग दिया है, और मैं उन्हें दे चुका था, इसलिये अब सिंहासन ग्रहण करने में विलम्ब न कीजिये।

गोविन्द०—वत्स ! इन आर्य्य-जाति के रत्नों की कौन-सी प्रशंसा करूँ। इनका स्वार्थ-त्याग दधीचि के दान से कम नहीं। बढ़ो वत्स ! सिंहासन पर बैठो, मैं तुम्हारा तिलक करूँ।

स्कंद०—तात ! विपत्तियों के बादल घिर रहे हैं; अन्तर्विद्रोह की ज्वाला प्रज्वलित है; इस समय मैं केवल एक सैनिक बन सकूँगा, सम्राट नहीं।

गोविन्दगुप्त—आज आर्य्य-जाति का प्रत्येक बच्चा सैनिक है, सैनिक छोड़कर और कुछ नहीं। आर्य्य-कन्याएँ अपहरण की जाती हैं; हूणों के विकट तांडव से पवित्र भूमि पादाक्रांत है; कहीं देवता की पूजा नहीं होती; सीमा की बर्बर जातियों की राक्षसी वृत्ति का प्रचंड पाखंड फैला है। इसी समय जाति तुम्हें पुकारती है—सम्राट होने के लिये नहीं, उद्धार युद्ध में सेनानी बनने के लिये—सम्राट् !

(गोविन्दगुप्त और बन्धुवर्मा हाथ पकड़कर स्कन्दगुप्त को सिंहासन पर बैठाते है। भीम छत्र लेकर बैठता है। देवसेना चमर करती है। गरुड़-ध्वज लेकर बन्धुवर्मा खड़े होते हैं। देवकी राजतिलक करती है। गोविन्द-गुप्त खड्ग का उपहार देते हैं। चक्र गरुड़ाङ्क राजदंड देता है।)

गोविन्दगुप्त—परम भट्टारक महाराजाधिराज स्कंदगुप्त की जय हो !

सब—(समवेत स्वर से) जय हो !

बन्धु०—आर्य-साम्राज्य के महाबलाधिकृत महाराजपुत्र गोविन्दगुप्त की जय हो ! (सब वैसा ही कहते हैं)

स्कंद०—आर्य्य ! इस गुरुभार उत्तरदायित्व का सत्य से पालन कर सकूँ, और आर्य्यराष्ट्र की रक्षा में सर्वस्व-अर्पण कर सकूँ, आप लोग इसके लिये भगवान् से प्रार्थना कीजिये और आशीर्वाद दीजिये कि स्कंदगुप्त अपने कर्त्तव्य से, स्वदेशसेवा से, कभी विचलित न हो ।

गोविन्द०—सम्राट् ! परमात्मा की असीम अनुकम्पा से आपका उद्देश सफल हो । आज गोविन्द ने अपना कर्त्तव्य-पालन किया । वत्स बंधुवर्म्मा ! तुम इस नवीन आर्य्यराष्ट्र के संस्थापक हो । तुम्हारे इस आत्मत्याग की गौरव-गाथा आर्य्य-जाति का मुख उज्ज्वल करेगी । वीर ! इस वृद्ध में साम्राज्य के महाबलाधिकृत होने की क्षमता नहीं, तुम्हीं इसके उपयुक्त हो ।

बंधु०—अभी नही आर्य्य ! आपके चरणों में बैठकर यह बालक स्वदेश-सेवा की शिक्षा ग्रहण करेगा । मालव का राज-कुटुम्ब, एक-एक बच्चा, आर्य्य-जाति के कल्याण के लिये जीवन उत्सर्ग करने को प्रस्तुत है । आप जो आज्ञा देंगे, वही होगा ।

"धन्य ! धन्य !"

स्कंद०—तात ! पर्णदत्त इस समय नहीं हैं !

चक्र०—सम्राट् ! वह सौराष्ट्र की चञ्चल राष्ट्रनीति की देख-रेख में लगे हैं ।

(कुमारदास का प्रवेश)

मातृगुप्त—सिंहल के युवराज कुमार धातुसेन की जय हो !

(सब आश्चर्य से देखते हैं)

स्कंद०—कुमारदास, सिंहल के युवराज ?

मातृगुप्त—हाँ महाराजाधिराज !

स्कंद०—अद्भुत ! वीर युवराज ! तुम्हारा स्नेह क्या कभी भूल सकता हूँ ? आओ, स्वागत !

(सब मंच पर बैठते हैं)

गोविन्द०—बन्दियों को ले आओ।

(सैनिकों के साथ भटार्क, शर्वनाग, विजया तथा कमला का प्रवेश)

स्कंद०—क्यों शर्व ! तुम क्या चाहते हो ?

शर्व०—सम्राट् ! मुझे वध की आज्ञा दीजिये, ऐसे नीच के लिये और कोई दंड नहीं है।

स्कंद०—नहीं, मैं तुम्हें इससे भी कड़ा दंड दूँगा, जो वध से भी उग्र होगा।

शर्व०—वही हो सम्राट् ! जितनी यंत्रणा से यह पापी प्राण निकाला जाय, उतना ही उत्तम होगा।

स्कंद०—परन्तु मैं तुम्हे मुक्त करता हूँ, क्षमा करता हूँ। तुम्हारे अपराध ही तुम्हारे मर्मस्थल पर सैकड़ों बिच्छुओं के डंक की चोट करेंगे। आजीवन तुम उसी यंत्रणा को भोगो, क्योंकि रामा—साध्वी रामा—को मैं अपनी आज्ञा से विधवा न बनाऊँगा। रामा सती ! तेरे पुण्य से आज तेरा पति मृत्यु से बचा !

(रामा सम्राट् का पैर पकड़ती है)

शर्व०—दुहाई सम्राट् की ! मुझे वध की आज्ञा दीजिये, नहीं

तो आत्म-हत्या करूँगा। ऐसे देवता के प्रति मैंने दुराचरण किया था। ओह! (छुरी निकालना चाहता है)

स्कंद०—ठहरो शर्व ! मैं तुम्हें आजीवन बन्दी बनाऊँगा।

(रामा आश्चर्य और दुःख से देखती है)

स्कंद०—शर्व ! यहाँ आओ।

(शर्व समीप आता है)

देवकी—वत्स ! इसे किसी विषय का शासक बनाकर भेजो, जिसमें दुखिया रामा को किसी प्रकार का कष्ट न हो।

सब—महादेवी की जय हो !

स्कंद०—शर्व ! तुम आज से अन्तर्वेद के विषयपति नियत किये गये। यह लो—(खड्ग देता है)

शर्व—(रुद्ध कंठ से) सम्राट् ! देवता ! आपकी जय हो ! (देवकी के पैर पर गिरकर) माँ ! मुझे क्षमा करो, मैं मनुष्य से पशु हो गया था ! अब तुम्हारी ही दया से मैं मनुष्य हुआ। आशीर्वाद दो जगद्धात्री कि मैं देव-चरणों मे आत्मबलि देकर जीवन सफल करूँ !

देवकी—उठो। क्षमा पर मनुष्य का अधिकार है, वह पशु के पास नहीं मिलती। प्रतिहिंसा पाशव धर्म्म है। उठो, मैं तुम्हें क्षमा करती हूँ।

(शर्व खड़ा होता है)

स्कंद०—भटार्क ! तुम इस गुप्त-साम्राज्य के महाबलाधिकृत नियत किये गये थे, और तुम्हीं साम्राज्य-लक्ष्मी महादेवी की

हत्या के कुचक्र में सम्मिलित हो ! यह तुम्हारा अक्षम्य अपराध है।

भटार्क०—मैं केवल राजमाता की आज्ञा का पालन करता था।

देवकी—क्यों भटार्क ! तुम यह उत्तर सच्चे हृदय से देते हो ? क्या ऐसा कहकर तुम स्वयं अपनेको धोखा देते हुए औरों को भी प्रवंचित नहीं कर रहे हो ?

भटार्क—अपराध हुआ। (सिर नीचा कर लेता है)

स्कन्द०—तुम्हारे खड्ग पर साम्राज्य को भरोसा था। तुम्हारे हृदय पर तुम्हीं को भरोसा न रहे, यह बड़े धिक्कार की बात है। तुम्हारा इतना पतन ? (भटार्क स्तब्ध रहता है। विजया की ओर देखकर) और तुम विजया ? तुम क्यों इसमें—

देवसेना—सम्राट् ! विजया मेरी सखी है।

विजया—परंतु मैंने भटार्क को वरण किया है।

जयमाला—विजया !

विजया—कर चुकी देवी !

देवसेना—उसके लिये दूसरा उपाय न था राजाधिराज ! प्रतिहिंसा मनुष्य को इतना नीचे गिरा सकती है ! परंतु विजया, तूने शीघ्रता की।

(स्कंद विजया की ओर देखते हुए विचार मे पड़ जाता है)

गोविन्द०—यह वृद्धा इसी कृतघ्न भटार्क की माता है। भटार्क के नीच कर्मों से दुखी होकर यह उज्जयिनी चली आई है।

स्कंद०—परंतु विजया, तुमने यह क्या किया ?

देवसेना—(स्वगत) आह ! जिसकी मुझे आशंका थी, वही है। विजया ! आज तू हारकर भी जीत गई।

देवकी—वत्स ! आज तुम्हारे शुभ महाभिषेक में एक बूँद भी रक्त न गिरे। तुम्हारी माता की भी यह मंगल-कामना है कि तुम्हारा शासन-दंड क्षमा के संकेत पर चला करे। आज मैं सबके लिये क्षमाप्रार्थिनी हूँ।

कुमारदास—आर्यनारी सती ! तुम धन्य हो ! इसी गौरव से तुम्हारे देश का सिर ऊँचा रहेगा।

स्कंद०—जैसी माता की इच्छा—

मातृगुप्त—परमेश्वर परम भट्टारक महाराजाधिराज स्कंदगुप्त की जय !!

[यवनिका]

तृतीय अंक

[शिप्रा-तट]

प्रपंचबुद्धि—सब विफल हुआ ! इस दुरात्मा स्कन्दगुप्त ने मेरी आशाओं के भंडार पर अर्गला लगा दी। कुसुमपुर में पुरगुप्त और अनन्तदेवी अपने विडम्बना के दिन बिता रहे हैं। भटार्क भी बन्दी हुआ, उसके प्राणों की रक्षा नहीं। क्रूर कर्मों की अवतारणा से भी एक बार सद्धर्म्म के उठाने की आकांक्षा थी, परन्तु वह दूर गया ! (कुछ सोचकर) उग्रतारा की साधना से विकट से भी विकट कार्य्य सिद्ध होते है, तो फिर इस महाकाल में महाश्मशान से बढ़कर कौन उपयुक्त स्थान होगा ! चलूँ—

(जाना चाहता है; भटार्क का प्रवेश)

भटार्क—भिक्षुशिरोमणे ! प्रणाम् !

प्रपंच०—कौन, भटार्क ? अरे मै स्वप्न देख रहा हूँ क्या !

भटार्क —नहीं आर्य्य, मैं जीवित हूँ।

प्रपंच०—उसने तुम्हें शूली पर नहीं चढ़ाया ?

भटार्क—नही, उससे बढ़कर !

प्रपंच०—क्या ?

भटार्क—मुझे अपमानित करके क्षमा किया। मेरी वीरता पर एक दुर्वह उपकार का बोझ लाद दिया।

प्रपंच०—तुम मूर्ख हो। शत्रु से बदला लेने का उपाय करना चाहिये, न कि उसके उपकारों का स्मरण।

भटार्क—मैं इतना नीच नहीं हूँ!

प्रपंच०—परंतु मैं तुम्हारी प्रवृत्ति जानता हूँ। तुम इतने उच्च भी नहीं हो। चलो एकान्त में बात करें। कोई आता है।

(दोनों जाते हैं)

(विजया का प्रवेश)

विजया—मैं कहाँ जाऊँ! उस उच्छृंखल वीर को मैं लौह-शृंखला पहना सकूँगी? उसे अपने बाहु-पाश में जकड़ सकती हूँ? हृदय के विकल मनोरथ! आह!

(गान)

उमड़कर चली भिगोने आज
तुम्हारा निश्चल अञ्चल छोर
नयन-जल-धारा रे प्रतिकूल!
देख ले तू फिरकर इस ओर

हृदय की अन्तरतम मुसक्यान
कल्पनामय तेरा यह विश्व
लालिमा में लय हो लवलीन
निरखते इन आँखों की कोर

यह कौन? ओ! राजकुमारी!

(देवसेना का प्रवेश—दूर पर उसकी परिचारिकाएँ)

देवसेना—विजया! सायंकाल का दृश्य देखने शिप्रा-तट पर तुम भी आ गई हो!

विजया—हाँ राजकुमारी ! (सिर झुका लेती है)

देवसेना—विजया, अच्छा हुआ, तुमसे भेंट हो गई; मुझे कुछ पूछना था।

विजया—पूछना क्या है ?

देवसेना—क्या जो तुमने किया है, उसे सोच-समझकर ? कहीं तुम्हारे दम्भ ने तुमको छल तो नहीं लिया ? तीव्र मनोवृत्ति के कशाघात ने तुम्हे विपथगामिनी तो नही बना दिया ?

विजया—राजकुमारी ! मैं अनुगृहीत हूँ। उस कृपा को नहीं भूल सकती जो आपने दिखाई है। परन्तु अब और प्रश्न करके मुझे उत्तेजित करना ठीक नही।

देवसेना—(आश्चर्य से) क्यों विजया ! मेरे सखी-जनोचित सरल प्रश्न में भी तुम्हें व्यङ्ग सुनाई पड़ता है ?

विजया—क्या इसमें भी प्रमाण की आवश्यकता है ? राजकुमारी ! आज से मेरी ओर देखना मत। मुझे कृत्या अभिशाप की ज्वाला समझना और ......

देवसना—ठहरो, दम ले लो ! संदेह के गर्त्त में गिरने के पहले विवेक का अवलम्बन ले लो विजया !

विजया—हताश जीवन कितना भयानक होता है—यह नहीं जानती हो ? उस दिन जिस तीखी छुरी को रखने के लिये मेरी हँसी उड़ाई जा रही थी, मैं समझती हूँ कि उसे रख लेना मेरे लिये आवश्यक था। राजकुमारी ! मुझे न छेड़ना। मैं तुम्हारी शत्रु हूँ। (क्रोध से देखती है)

देवसेना—(आश्चर्य से) क्या कह रही हो ?

विजया—वही जिसे तुम सुन रही हो।

देवसेना—वह तो जैसे उन्मत्त का प्रलाप था, अकस्मात् स्वप्न देखकर जग जानेवाले प्राणी की कुतूहल-गाथा थी। विजया ! क्या मैंने तुम्हारे सुख मे बाधा दी ? परन्तु मैंने तो तुम्हारे मार्ग को स्वच्छ करने के सिवा रोड़े न बिछाये।

विजया—उपकारो की ओट से मेरे स्वर्ग को छिपा दिया, मेरी कामना-लता को समूल उखाड़कर कुचल दिया !

देवसना—शीघ्रता करनेवाली स्त्री ! अपनी असावधानी का दोष दूसरे पर न फेंक। देवसेना मूल्य देकर प्रणय नहीं लिया चाहती है......। अच्छा, इससे क्या ?

(जाती है)

विजया—जाती हो, परन्तु सावधान !

(भटार्क और प्रपंचबुद्धि का प्रवेश)

भटार्क—विजया ! तुम कब आई हो ?

विजया—अभी-अभी; तुम्हीं को तो खोज रही थी। (प्रपंचबुद्धि को देखकर) आप कौन है ?

भटार्क—'योगाचार-संघ' के प्रधान श्रमण आर्य्य प्रपंचबुद्धि।

(विजया नमस्कार करती है)

प्रपंच०—कल्याण हो देवि ! भटार्क से तो तुम परिचित-सी हो, परन्तु मुझे भी जान जाओगी।

विजया—आर्य्य ! आपके अनुग्रह-लाभ की बड़ी आकांक्षा है।

प्रपंच०—शुभे ! प्रज्ञापारमिता-स्वरूपा तारा तुम्हारी रक्षा करे! क्या तुम सद्धर्म की सेवा के लिये कुछ उत्सर्ग कर सकोगी ? (कुछ सोचकर) तम्हारे मनोरथ पूर्ण होने में विघ्न और विलम्ब है। इसी लिये तुम्हें अवश्य धर्माचरण करना होगा।

विजया—आर्य्य ! मेरा भी एक स्वार्थ है।

प्रपंच०—क्या ?

विजया—राजकुमारी देवसेना का अन्त !

प्रपंच०—और मुझे उग्रतारा की साधना के लिये महाश्मशान में एक राजबलि चाहिये !

भटार्क—यह तो अच्छा सुयोग है !

विजया—उसे श्मशान तक ले आना तो मेरा काम है; आगे मैं कुछ न कर सकूँगी।

प्रपंच०—सब हो जायगा। उग्रतारा की कृपा से सब कुछ सुसम्पन्न होगा।

भटार्क—परन्तु मैं कृतघ्नता से कलंकित होऊँगा, और स्कन्दगुप्त से मै किस मुँह से......नहीं, नहीं......

प्रपंच०—सावधान भटार्क ! अलग ले जाकर इतना समझाया, फिर भी ...! तुम पहले अनन्तदेवी और पुरगुप्त से प्रतिश्रुत हो चुके हो।

भटार्क—ओह ! पाप-पङ्क में लिप्त मनुष्य को छुट्टी नहीं ! कुकर्म उसे जकड़कर अपने नागपाश में बाँध लेता है। दुर्भाग्य !

मातृगुप्त—(निकलकर) भयानक कुचक्र ! एक निर्मल कुसुम-कली को कुचलने के लिये इतनी बड़ी प्रतारणा की चक्की ! मनुष्य ! तुझे हिंसा का उतना ही लोभ है, जितना एक भूखे भेड़िये को ! तब भी तेरे पास उससे कुछ विशेष साधन हैं—छल, कपट, विश्वासघात, कृतघ्नता, और पैने अस्त्र । इनसे भी बढ़कर प्राण लेने की कलाकुशलता । देखा जायगा; भटार्क ! तुम जाते कहाँ हो !

[जाता है]

[श्मशान में साधक-रूप से प्रपंचबुद्धि। दूर से स्कंदगुप्त टहलता हुआ आता है।]

स्कंद०—इस साम्राज्य का बोझ किसके लिये? हृदय में अशान्ति, राज्य में अशान्ति, परिवार में अशान्ति! केवल मेरे अस्तित्व से? मालूम होता है कि सबकी—विश्व-भर की—शान्ति-रजनी में मैं ही धूमकेतु हूँ, यदि मैं न होता तो यह संसार अपनी स्वाभाविक गति से, आनन्द से, चला करता। परन्तु मेरा तो निज का कोई स्वार्थ नहीं, हृदय के एक-एक कोने को छान डाला—कहीं भी कामना की वन्या नहीं। बलवती आशा की आँधी नहीं चल रही है। केवल गुप्त-सम्राट् के वंशधर होने की दयनीय दशा ने मुझे इस रहस्य-पूर्ण क्रिया-कलाप में संलग्न रक्खा है। कोई भी मेरे अंतःकरण का आलिङ्गन करके न रो सकता है, और न तो हँस सकता है। तब भी विजया...? ओह! उसे स्मरण करके क्या होगा। जिसे हमने सुख-शर्वरी की सन्ध्यातारा के समान पहले देखा, वही उल्कापिंड होकर दिगन्त-दाह करना चाहती है। विजया! तूने क्या किया! (देखकर) ओह! कैसा भयानक मनुष्य है! कैसी क्रूर आकृति है! मूर्त्तिमान पिशाच है! अच्छा, मातृगुप्त तो अभी तक नहीं आया। छिपकर देखूँ।

(छिपता है)

(विजया के साथ देवसेना का प्रवेश)

देवसेना—आज फिर तुम किस अभिप्राय से आई हो?

विजया—और तुम राजकुमारी? क्या तुम इस महा-वीभत्स श्मशान में आने से नहीं डरती हो?

देवसेना—संसार का मूक शिक्षक 'श्मशान' क्या डरने की वस्तु है? जीवन की नश्वरता के साथ ही सर्वात्मा के उत्थान का ऐसा सुन्दर स्थल और कौन है?

(नेपथ्य से गान)

सब जीवन बीता जाता है
धूप-छाँह के खेल-सदृश। सब०

समय भागता है प्रतिक्षण में
नव-अतीत के तुषार-कण में
हमें लगाकर भविष्य-रण में
आप कहाँ छिप जाता है?—सब०

बुल्ले, लहर, हवा के झोंके
मेघ और बिजली की टोंके
किसका साहस है कुछ रोके
जीवन का वह नाता है।—सब०

वंशी को बस बज जाने दो
मीठी मीड़ों को आने दो
आँख बन्द करके गाने दो
जो कुछ हमको आता है।—सब०

विजया—(स्वगत) भाव-विभोर दूर की रागिनी सुनती हुई यह कुरंगी-सी कुमारी......आह! कैसा भोला मुखड़ा है! नहीं, नहीं विजया! सावधान! प्रतिहिंसा......(प्रकट) राजकुमारी! देखो, यह कोई बड़ा सिद्ध है, वहाँ तक चलोगी?

देवसेना—चलो, परन्तु मुझे सिद्ध से क्या प्रयोजन? जब मेरी कामनाएँ विस्मृति के नीचे दबा दी गई हैं, तब वह चाहे स्वयं ईश्वर ही हो तो क्या? तब भी एक कुतूहल है; चलो—

(विजया देवसेना को आगे कर प्रपंचबुद्धि के पास ले जाती है, और आप हट जाती है। ध्यान से आँख खोलकर प्रपंच उसे देखता है।)

प्रपंच०—तुम्हारा नाम देवसेना है?

देवसेना—(आश्चर्य से) हाँ भगवन्!

प्रपंच०—तुमको देवसेवा के लिये शीघ्र प्रस्तुत होना होगा। तुम्हारी ललाट-लिपि कह रही है कि तुम बड़ी भाग्यवती हो!

देवसेना—कौन-सी देवसेवा?

प्रपंच०—यह नश्वर शरीर, जिसका उपभोग तुम्हारा प्रेमी भी न कर सका और न करने की आशा है, देवसेवा मे अर्पित करो! उग्रतारा तुम्हारा परम मङ्गल करेगी।

देवसेना—(सिहर उठती है) क्या मुझे अपनी बलि देनी होगी? (घूमकर देखती है) विजया! विजया!!

प्रपंच०—डरो मत, तुम्हारा सृजन इसीलिये था। नित्य की मोह-ज्वाला में जलने से तो यही अच्छा है कि तुम एक साधक का उपकार करती हुई अपनी ज्वाला शांत कर दो!

देवसेना—परन्तु······कापालिक! एक और भी आशा मेरे हृदय में है। वह पूर्ण नहीं हुई है। मैं डरती नहीं हूँ, केवल उसके पूर्ण होने की प्रतीक्षा है। विजया के स्थान को मैं कदापि न ग्रहण करूँगी। उसे भ्रम है, यदि वह छूट जाता······

प्रपंच०—(उठकर उसका हाथ पकड़कर खड्ग उठाता है) परन्तु मुझे ठहरने का अवकाश नहीं। उग्रतारा की इच्छा पूर्ण हो!

देवसेना—प्रियतम! मेरे देवता युवराज!! तुम्हारी जय हो!

(सिर झुकाती है)

[पीछे से मातृगुप्त आकर प्रपंच का हाथ पकड़कर नेपथ्य में ले जाता है, देवसेना चकित होकर स्कंद का आलिङ्गन करती है!]

[मगध में अनंतदेवी, पुरगुप्त, विजया और भटार्क]

पुरगुप्त—विजय-पर-विजय ! देखता हूँ कि एक बार वंक्षुतट पर गुप्तसाम्राज्य की पताका फिर फहरायगी। गरुड़ध्वज वंक्षु के रेतीले मैदान में अपनी स्वर्ण-प्रभा का विस्तार करेगा।

अनन्त०—परन्तु तुमको क्या ? निर्वीर्य्य, निरीह बालक ! तुम्हें भी इसकी प्रसन्नता है ? लज्जा के गर्त्त में डूब ही जाते। और भी छाती फुलाकर इसका आनन्द मनाते हो !

विजया—अहा ! यदि आज राजाधिराज कहकर युवराज पुरगुप्त का अभिनन्दन कर सकती !

भटार्क—यदि मैं जीता रहा तो वह भी कर दिखाऊँगा !

(दौवारिक का प्रवेश)

दौवारिक—जय हो ! एक चर आया है।

भटार्क—ले आओ।

(दौवारिक जाकर चर को लिवा लाता है)

चर—युवराज की जय हो !

भटार्क—तुम कहाँ से आये हो ?

चर—नगरहार के हूण-स्कंधावार से।

भटार्क—क्या संदेश है ?

चर—सेनापति खिङ्गिल ने पूछा है कि मगध की गुप्तपरिषद् क्या कर रही है ? उसने प्रचुर अर्थ लेकर भी मुझे ठीक समय पर धोखा दिया है। परन्तु स्मरण रहे कि अबको हमारा अभियान सीधे कुसुमपुर पर होगा; स्कंदगुप्त का साम्राज्य-ध्वंस पीछे होगा। पहले कुसुमपुरी का मणि-रत्न-भांडार लूटा जायगा। प्रतिष्ठान

और चरणाद्रि तथा गोपाद्रि के दुर्गपतियों को जो धन विद्रोह करने के लिये परिषद् की आज्ञा से भेजा गया था, उसका क्या फल हुआ ? अन्तर्वेद के विषयपति की कुटिल दृष्टि ने उस रहस्य का उद्‌घाटन करके वह धन भी आत्मसात् कर लिया और सहायता के बदले हमलोग प्रवंचित हुए, जिससे हूणों को सिन्धु का भी तट छोड़ देना पड़ा।

भटार्क—ओह ! शर्वनाग ने बड़ी सावधानी से काम लिया। आचार्य्य प्रपंचबुद्धि का निधन होने से यह सब दुर्घटना हुई है। दूत ! हूणराज से कहना कि पुरगुप्त को सम्राट बनाने में तुम्हें अवश्य सहायता करनी पड़ेगी।

चर—परन्तु उन्हें विश्वास कैसे हो ?

भटार्क—मैं प्रमाणपत्र दूँगा। हूणों को एक बार ही भारतीय सीमा से दूर करने के लिये स्कंदगुप्त ने समस्त सामन्तों को आमन्त्रण दिया है। मगध की रक्षक सेना भी उसमें सम्मिलित होगी, और मैं ही उसका परिचालन करूँगा। वहीं इसका प्रत्यक्ष प्रमाण मिलेगा। और यह लो प्रमाणपत्र। (पत्र देता है)

पुरगुप्त—ठहरो।

अनंत०—चुप रहो !

दूत—तो यह उपहार भी सम्राज्ञी के लिये प्रस्तुत है।

(रत्नों से भरी हुई मंजूषा देता है)

भटार्क—और उत्तरापथ के समस्त धर्म्मसंघों के लिये क्या किया है ?

दूत—आर्य्य महाश्रमण के पास मैं हो आया हूँ। समस्त

सद्धर्म्म के अनुयायी और संघ, स्कंदगुप्त के विरुद्ध हैं। याज्ञिक क्रियाओं की प्रचुरता से उनका हृदय धर्म्मनाश के भय से घबरा उठा है। सब विद्रोह करने के लिये उत्सुक हैं।

भटार्क—अच्छा, जाओ। नगरहार के गिरिव्रज का युद्ध इसका निबटारा करेगा। हूणराज से कहना कि सावधान रहे। शीघ्र वहीं मिलूँगा।

(दूत प्रणाम करके जाता है)

पुरगुप्त—यह क्या हो रहा है?

अनन्त०—तुम्हारे सिंहासन पर बैठने की प्रस्तावना है!

(सैनिक का प्रवेश)

सैनिक—महादेवी की जय हो!

भटार्क—क्या है?

सैनिक—कुसुमपुर की सेना जालन्धर से भी आगे बढ़ चुकी है। साम्राज्य के स्कंधावार में शीघ्र ही उसके पहुँच जाने की संभावना है।

पुरगुप्त—विजया! बहुत विलम्ब हुआ। एक पात्र

(अनन्तदेवी संकेत करती है, विजया उसे पिलाती है)

भटार्क—मेरे अश्वों की व्यवस्था ठीक है न? मैं उसके पहले पहुँचूगा।

सैनिक—परन्तु महाबलाधिकृत!

भटार्क—क्या? कहो!

सैनिक—यह राष्ट्र का आपत्ति-काल है, युद्ध की आयोजनाओं के बदले हम कुसुमपुर में आपानकों का समारोह देख रहे है। राजधानी विलासिता का केंद्र बन रही है। यहाँ के

मनुष्यों के लिये विलास के उपकरण बिखरे रहने पर भी अपर्य्याप्त है ! नये-नये साधन और नवीन कल्पनाओं से भी इस विलासिता-राक्षसी का पेट नहीं भर रहा है ! भला मगध के विलासी सैनिक क्या करेंगे ?

भटार्क—अबोध ! जो विलासी न होगा वह भी क्या वीर हो सकता है ? जिस जाति में जीवन न होगा वह विलास क्या करेगी ? जाग्रत राष्ट्र में ही विलास और कलाओं का आदर होता है। वीर एक कान से तलवारों की और दूसरे से नूपुरों की झनकार सुनते हैं।

विजया—बात तो यही है।

सैनिक—आप महाबलाधिकृत हैं, इसलिये मैं कुछ नहीं कहूँगा।

भटार्क—नहीं तो ?

सैनिक—यदि दूसरा कोई ऐसा कहता, तो मैं यही उससे कहता कि तुम देश के शत्रु हो !

भटार्क—(क्रोध से) हैं... !

सैनिक—हाँ, यवनों से उधार ली हुई सभ्यता नाम की विलासिता के पीछे आर्यजाति उसी तरह पड़ी है, जैसे कुलवधू को छोड़कर कोई नागरिक वेश्या के चरणों में। देश पर बर्बर हूणों की चढ़ाई और तिसपर भी यह निर्लज्ज आमोद ! जातीय जीवन के निर्वाणोन्मुख प्रदीप का यह दृश्य है। आह ! जिस मगध देश की सेना सदैव नासीर में रहती थी, आर्य्य चन्द्रगुप्त की वही विजयिनी सेना सबके पीछे निमंत्रण पाने पर साम्राज्य-

सेना में जाय ! महाबलाधिकृत ! मेरी तो इच्छा होती है कि मैं आत्म-हत्या कर लूँ ! मैं उस सेना का नायक हूँ, जिसपर गरुड़ध्वज की रक्षा का भार रहता था। आर्य्य समुद्रगुप्त की प्रतिष्ठित उस सेना का ऐसा अपमान !

भटार्क—(अपने क्रोध के मनोभाव दबाकर) अच्छा, तुम यहीं मगध की रक्षा करना, मैं जाता हूँ।

सैनिक—हूँ, अच्छा तो यह खड्ग लीजिये, मैं आज से मगध की सेना का नायक नहीं। (खड्ग देता है)

पुरगुप्त—(मद्यप की-सी चेष्टा बनाकर) यह अच्छा किया, आओ मित्र ! हम-तुम कादम्ब पियें। जाने दो इन्हें। इन्हें लड़ने दो।

अनंतदेवी—(भटार्क को संकेत करती हुई ले जाती है, और विजया से कहती है) विजया ! युवराज का मन बहलाओ !

[सैनिक तिरस्कार की दृष्टि से देखते हुए जाता है। भटार्क और अनंतदेवी एक ओर, विजया और पुरगुप्त दूसरी ओर जाते हैं।]

[उपवन]

(जयमाला और देवसेना)

जयमाला—तू उदास है कि प्रसन्न, कुछ समझ में नहीं आता ! जब तू गाती है।तब तेरे भीतर की रागिनी रोती है, और जब हँसती है तब जैसे विषाद की प्रस्तावना होती है !

१—सखी—सम्राट युद्ध-यात्रा में गये हैं और......

२—सखी—तो क्या ?

देवसेना—तुम सब भी भाभी के साथ मिल गई हो। क्यों भाभी ! गाऊँ वह गीत ?

जयमाला—मेरी प्यारी ! तू गाती है । अहा ! बड़ी-बड़ी आँखें तो बरसाती ताल-सी लहरा रही हैं। तू दुखी होती है। ले, मैं जाती हूँ। अरी ! तुम सब इसे हँसाओ। (जाती है)

देवसेना—क्या महारथी हारकर भगे ? अब तुम सब क्षुद्र सैनिकों की पारी है ? अच्छा तो आओ।

१—सखी—नहीं, राजकुमारी ! मैं पूछती हूँ कि सम्राट् ने तुमसे कभी प्रार्थना की थी ?

२—सखी—हाँ, तभी तो प्रेम का सुख है !

३—सखी—तो क्या मेरी राजकुमारी स्वयं प्रार्थिनी होंगी ? उहूँ !

देवसेना—प्रार्थना किसने की है, यह रहस्य की बात है। क्यों ? कहूँ ? प्रार्थना हुई है मालव की ओर से ; लोग कहेंगे कि मालव देकर देवसेना का ब्याह किया जा रहा है।

१—सखी—न कहो, तब फिर क्या—हरी-हरी कोंपलों की टट्टी में फूल खिल रहा है—और क्या !

देवसेना—तेरा मुँह काला, और क्या ? निर्दय होकर आघात मत कर, मर्म्म बड़ा कोमल है। कोई दूसरी हँसी तुझे नहीं आती ?

(मुँह फेर लेती है)

२—सखी—लक्ष्यभेद ठीक हुआ-सा देखती हूँ।

देवसेना—क्यों घाव पर नमक छिड़कती है ? मैंने कभी उनसे प्रेम की चर्चा करके उनका अपमान नहीं होने दिया है। नीरव जीवन और एकांत व्याकुलता, कचोटने का सुख मिलता है। जब हृदय में रुदन का स्वर उठता है, तभी संगीत की वीणा मिला लेती हूँ। उसीमे सब छिप जाता है।

(आँखों से आँसू बहता है)

१—सखी—हैं-हैं, क्या तुम रोती हो ? मेरा अपराध क्षमा करो !

देवसेना—(सिसकती हुई) नहीं प्यारी सखी ! आज ही मैं प्रेम के नाम पर जी खोलकर रोती हूँ; बस, फिर नहीं। यह एक क्षण का रुदन अनन्त स्वर्ग का सृजन करेगा।

२—सखी—तुम्हें इतना दुःख है, मैं यह कल्पना भी न कर सकी थी।

देवसेना—(सम्हलकर) यही तू भूलती है। मुझे तो इसी में सुख मिलता है ; मेरा हृदय मुझसे अनुरोध करता है, मचलता है, रूठता है, मै उसे मनाती हूँ। आँखें प्रणय-कलह उत्पन्न कराती हैं, चित्त उत्तेजित करता है, बुद्धि झिड़कती है, कान कुछ

सुनते ही नहीं ! मैं सबको समझाती हूँ, विवाद मिटाती हूँ। सखी ! फिर भी मैं इसी झगड़ालू कुटुम्ब में गृहस्थी सम्हालकर, स्वस्थ होकर, बैठती हूँ।

२—सखी—आश्चर्य्य ! राजकुमारी ! तुम्हारे हृदय में एक बरसाती नदी वेग से भरी है !

देवसेना—कूलो मे उफनकर बहनेवाली नदी, तुमुल तरङ्ग, प्रचंड पवन और भयानक वर्षा ! परन्तु उसमें भी नाव चलानी ही होगी।

१—सखी—

(गान)

माझी ! साहस है खे लोगे
जर्जर तरी भरी पथिकों से—
झड़ में क्या खोलोगे

अलस नील घन की छाया में—
जलजालों की छल-माया में—
अपना बल तोलोगे

अनजाने तट की मदमाती—
लहरें, क्षितिज चूमती आतीं
ये झटके झेलोगे ? माझी—

(भीमवर्म्मा का प्रवेश)

भीम०—बहिन ! शक-मंडल से विजय का समाचार आया है !

देवसेना—भगवान की दया है।

भीम०—परन्तु, महाराजपुत्र गोविन्दगुप्त वीरगति को प्राप्त हुए, यह बड़ा.........!

देवसेना—वे धन्य हैं!

भीम०—वीर-शय्या पर सोते-सोते उन्होंने अनुरोध किया कि महाराज बन्धुवर्म्मा गुप्तसाम्राज्य के महाबलाधिकृत बनाये जायँ, इसलिये अभी वे स्कंधावार में ठहरेंगे। उनका आना अभी नहीं हो सकता। और भी कुछ सुना देवसेना?

देवसेना—क्या?

भीम०—सम्राट् ने तुम्हें बचाने के पुरस्कार-स्वरूप मातृगुप्त को काश्मीर का शासक बना दिया है। गान्धारवंशी राजा अब वहाँ नहीं है। काश्मीर अब साम्राज्य के अन्तर्गत हो गया है।

देवसेना—सम्राट् की महानुभावता है। भाई! मेरे प्राणों का इतना मूल्य?

भीम०—आर्य्य-साम्राज्य का उद्धार हुआ है। बहिन! सिंधु के प्रदेश से म्लेच्छ-राज ध्वंस हो गया है। प्रवीर सम्राट् स्कंदगुप्त ने विक्रमादित्य की उपाधि धारण की है। गौ, ब्राह्मण और देवताओं की ओर कोई भी आततायी आँख उठाकर नहीं देखता। लौहित्य से सिंधु तक, हिमालय की कन्दराओं में भी, स्वच्छन्दता-पूर्वक सामगान होने लगा। धन्य हैं हम लोग जो इस दृश्य को देखने के लिये जीवित हैं!

देवसेना—मङ्गलमय भगवान सब मङ्गल करेंगे। भाई, साहस चाहिये, कोई वस्तु असम्भव नहीं।

भी०—उत्तरापथ के सुशासन की व्यवस्था करके परम भट्टारक शीघ्र आवेंगे। मुझे अभी स्नान करना है, जाता हूँ।

देवसेना—भाई ! तुम अपने शरीर के लिये बड़े ही निश्चिन्त रहते हो। और कामों के लिये तो......

(भीम हँसता हुआ जाता है)

(मुद्गल का प्रवेश)

मुद्गल—जो है सो काणाम करके यह तो अपने से नहीं हो सकता। उहूँ, जब कोई न मिला तो फूटी ढोल की तरह मेरे गले पड़ी !

देवसेना—क्या है मुद्गल ?

मुद्गल—वही-वही, सीता की सखी, मन्दोदरी की नानी त्रिजटा। कहाँ है मातृगुप्त ज्योतिषी की दुम ! अपने को कवि भी लगाता था ! मेरी कुंडली मिलाई या कि मुझे मिट्टी में मिलाया। शाप दूँगा। एक शाप ! दाँत पीसकर, हाथ उठाकर, शिखा खोलते हुए चाणक्य का लकड़दादा बन जाऊँगा ! मुझे इस झंझट में फँसा दिया ! उसने क्यों मेरा व्याह कराया......?

देवसेना—तो क्या बुरा किया ?

मुद्गल—झख मारा, जो है सो काणाम करके।

देवसेना—अरे व्याह भी तुम्हारा होता ?

मुद्गल—न होता तो क्या इससे भी बुरा रहता ? बाबा, अब तो मैं इसपर भी प्रस्तुत हूँ कि कोई इसको फेर ले। परंतु यह हत्या कौन अपने पल्ले बाँधेगा !

(सब हँसती हैं)

देवसेना—आज कौन-सी तिथि है ? एकादशी तो नहीं है ?

मुद्गल—हाँ, यजमान के घर एकादशी और मेरे पारण की द्वादशी ; क्योंकि ठीक मध्याह्न में एकादशी के ऊपर द्वादशी चढ़ बैठती है, उसका गला दबा देती है ; पेट पचकने लगता है !

देवसेना—अच्छा, आज तुम्हारा निमंत्रण है—तुम्हारी स्त्री के साथ।

मुद्गल—जो है सो देवता प्रसन्न हों, आपका कल्याण हो ! फिर शीघ्रता होनी चाहिये। पुण्यकाल बीत न जाय……चलिये। मैं उसे बुला लेता हूँ। (जाता है)

[सबका प्रस्थान]

[गान्धार की घाटी—रणक्षेत्र]

(तुरही बजती है, स्कंदगुप्त और बंधुवर्म्मा के साथ सैनिकों का प्रवेश)

बंधु०—वीरो ! तुम्हारी विश्वविजयिनी वीर-गाथा सुर-सुंदरियों की वीणा के साथ मन्द ध्वनि से नंदन में गूँज उठेगी। असम साहसी आर्य्य-सैनिक ! तुम्हारे शस्त्र ने बर्बर हूणों को बता दिया है कि रण-विद्या केवल नृशंसता नहीं है। जिनके आतंक से आज विश्वविख्यात रूम-साम्राज्य पादाक्रांत है, उन्हें तुम्हारा लोहा मानना होगा और तुम्हारे पैरों के नीचे दबे हुए कंठ से उन्हें स्वीकार करना होगा कि भारतीय दुर्जेय वीर हैं। समझ लो—आज के युद्ध में प्रत्यावर्त्तन नहीं है। जिसे लौटना हो, अभी से लौट जाय।

सैनिक—आर्य-सैनिकों का अपमान करने का अधिकार महाबलाधिकृत को भी नहीं है! हम सब प्राण देने आये हैं, खेलने नहीं !

स्कंद०—साधु ! तुम यथार्थ ही जननी जन्म-भूमि की संतान हो।

सैनिक—राजाधिराज श्री स्कंदगुप्त विक्रमादित्य की जय !

(चर का प्रवेश)

चर—परम भट्टारक की जय हो !

स्कंद०—क्या समाचार है ?

चर—देव ! हूण शीघ्र ही नदी के पार होकर आक्रमण की प्रतीक्षा कर रहे हैं। परंतु, यदि आक्रमण न हुआ तो वे स्वयं आक्रमण करेंगे।

बंधु०—और कुभा के रणक्षेत्र का क्या समाचार है ?

चर—मगध को सेना पर विश्वास करने के लिये मैं न कहूँगा। भटार्क की दृष्टि में पिशाच की मंत्रणा चल रही है। खिङ्गिल के दूत भी आ रहे हैं। चक्रपालित उस कूट-चक्र को तोड़ सकेंगे कि नहीं, इसमें सन्देह है।

स्कंद०—बंधुवर्म्मा ! तुम कुभा के रणक्षेत्र की ओर जाओ, मैं यहाँ देख लूँगा।

बंधु०—राजाधिराज !/मगध की सेना पर अधिकार रखना मेरे सामर्थ्य के बाहर होगा, और मालव की सेना आज नासीर में है। आज इस नदी की तीक्ष्ण धारा को लाल करके बहा देने की मेरी प्रतिज्ञा है। आज मालव का एक भी सैनिक नासीर-सेना से न हटेगा।

स्कंद०—बंधु ! यह यश मुझसे मत छीन लो।

बंधु०—परन्तु सबके प्राण देने के स्थान भिन्न है। यहाँ मालव की सेना मरेगी, दूसरे को यहाँ मरकर अधिकार जमाने का अधिकार नहीं। और बंधुवर्मा मरने-मारने में जितना पटु है, उतना षड्यंत्र तोड़ने में नहीं। आपके रहने से सौ बंधुवर्मा उत्पन्न होंगे। आप शीघ्रता कीजिये।

स्कंद०—बंधुवर्मा ! तुम बड़े कठोर हो !

बंधु०—शीघ्रता कीजिये। यहाँ हूणों को रोकना मेरा ही कर्त्तव्य है, उसे मैं ही करूँगा। महाबलाधिकृत का अधिकार मैं न छोड़ूँगा। चक्रपालित वीर है, परन्तु अभी वह नवयुवक है; आपका वहाँ पहुँचना आवश्यक है। भटार्क पर विश्वास न कीजिये।

स्कंद०—मैंने समझा कि हूणों के सम्मुख वह विश्वासघात न करेगा।

बंधु०—ओह ! जिस दिन ऐसा हो जायगा, उस दिन कोई भी इधर आँख उठाकर न देखेगा। सम्राट ! शीघ्रता कीजिये !

स्कंद०—(आलिङ्गन करता है) मालवेश की जय।

बंधु०—राजाधिराज श्री स्कंदगुप्त विक्रमादित्य की जय !

(चर के साथ स्कंदगुप्त जाते हैं)

(नेपथ्य में रणवाद्य। शत्रु-सेना आती है। हूणों की सेना से विकट युद्ध। हूणों का मरना, घायल होकर भागना। बंधुवर्मा की अन्तिम अवस्था; गरुड़ध्वज टेककर उसे चूमना।)

बंधु०—(दम तोड़ते हुए) विजय ! तुम्हारी... विजय !... आर्य्य-साम्राज्य की जय !

सब—आर्य्य-साम्राज्य की जय !

बंधु०—भाई ! स्कंदगुप्त से कहना कि मालव-वीर ने अपनी प्रतिज्ञा पूरी की; भीम और देवसेना उनकी शरण हैं।

सैनिक—महाराज ! आप क्या कहते हैं ! (सब शोक करते हैं)

बंधु०—बंधुगण ! यह रोने का नहीं, आनंद का समय है। कौन वीर इसी तरह जन्म-भूमि की रक्षा मे प्राण देता है, यही मैं ऊपर से देखने जाता हूँ।

सैनिक—महाराज बंधुवर्मा की जय !

(गरुड़ध्वज की छाया में बंधुवर्मा की मृत्यु)

[दुर्ग के सम्मुख कुभा का रणक्षेत्र ; चक्रपालित और स्कंदगुप्त]

चक्र०—सम्राट् ! प्रतारणा की पराकाष्ठा ! दो दिन से जान-बूझकर शत्रु को उस ऊँची पहाड़ी पर जमने का अवकाश दिया जा रहा है। आक्रमण करने से मैं रोका जा रहा हूँ। समस्त मगध की सेना उसके संकेत पर चल रही है।

स्कंद०—चक्र ! कुभा में जल बहुत कम है, आज ही उतरना होगा। तुम्हें दुर्ग में रहना चाहिये। मैं भटार्क पर विश्वास तो करता ही नहीं, परन्तु उसपर प्रकट रूप से अविश्वास का भी समय नही रहा।

चक्र०—नहीं सम्राट ! उसे बंदी कीजिये। वह देखिये—आ रहा है।

भटार्क—(प्रवेश करके) राजाधिराज की जय हो !

स्कंद०—क्यो सेनापति ! यह क्या हो रहा है ?

भटार्क—आक्रमण की प्रतीक्षा सम्राट् !

स्कंद०—या समय की ?

भटार्क—सम्राट् का मुझपर विश्वास नहीं है, यह ....

चक्र०—विश्वास तो कहीं से क्रय नहीं किया जाता !

भटार्क—तुम अभी बालक हो।

चक्र०—दुराचारी कृतघ्न ! अभी मैं तेरा कलेजा फाड़ खाता ; तेरा ...... !

भटार्क—सावधान ! अब मैं सहन नहीं कर सकता !

(तलवार पर हाथ रखता है)

स्कंद०—भटार्क ! वह बालक है । कूटमंत्रणा, वाक्चातुरी नहीं जानता । चुप रहो चक्र !

(चक्रपालित और भटार्क सिर नीचा कर लेते हैं)

स्कंद०—भटार्क ! प्रवञ्चना का समय नहीं है। स्मरण रखना—कृतघ्न और नीचों की श्रेणी में तुम्हारा नाम पहले रहेगा !

(भटार्क चुप रह जाता है)

स्कंद०—युद्ध के लिये प्रस्तुत हो ?

भटार्क—मेरा खड्ग साम्राज्य की सेवा करेगा ।

स्कंद०—अच्छा तो अपनी सेना लेकर तुम गिरिसंकट पर पीछे से आक्रमण करो और सामने से मैं आता हूँ । चक्र ! तुम दुर्ग की रक्षा करो ।

भटार्क—जैसी आज्ञा । नगरहार के स्कंधावार को भी सहायता के लिये कहला दिया जाय तो अच्छा हो ।

स्कंद०—चर गया है। तुम शीघ्र जाओ। देखो—सामने शत्रु दीख पड़ते हैं ।

(भटार्क का प्रस्थान)

चक्र०—तो मैं बैठा रहूँ ?

स्कंद०—भविष्य अच्छा नहीं है चक्र ! नगरहार से समय पर सहायता पहुँचती नहीं दिखाई देती। परंतु, यदि आवश्यकता हो तो शीघ्र नगरहार की ओर प्रत्यावर्त्तन करना। मैं वहीं तुमसे मिलूँगा ।

(चर का प्रवेश)

स्कंद०—गान्धार-युद्ध का क्या समाचार है ?

चर—विजय। उस रणक्षेत्र में हूण नहीं रह गये । परंतु सम्राट्! बंधुवर्म्मा नहीं हैं !

स्कंद०—आह बंधु ! तुम चले गये ? धन्य हो वीर-हृदय !

(शोक-मुद्रा से बैठ जाता है)

चक्र०—इसका समय नहीं है सम्राट्! उठिये, सेना आ रही है; इस समय यह समाचार नहीं प्रचारित करना है।

स्कंद०—(उठते हुए) ठीक कहा।

(भटार्क के साथ सेना का प्रवेश)

स्कंद०—देखो, कुभा के उस बंध से सावधान रहना ! आक्रमण में यदि असफलता हो, और शत्रु की दूसरी सेना कुभा को पार करना चाहे, तो उसे काट देना। देखो भटार्क ! तुम्हारे विश्वास का यही प्रमाण है।

भटार्क—जैसी आपकी आज्ञा।

(कुछ सैनिकों के साथ जाता है)

स्कंद०—चक्र ! दुर्ग-रक्षक सैनिकों को लेकर तुम प्रतीक्षा करना। हम इसी छोटी-सी सेना से आक्रमण करेंगे । तुम सावधान !

(नेपथ्य से रणवाद्य)

देखो—वह हूण आ रहे हैं ! उन्हें वहीं रोकना होगा। तुम दुर्ग में जाओ।

चक्र०—जैसी आज्ञा। (जाता है)

स्कंद०—वीर मगध-सैनिको ! आज स्कंदगुप्त तुम्हारी परिचालना कर रहा है, यह ध्यान रहे, गरुड़ध्वज का मान रहे, भले ही प्राण जायँ !

मगध-सेना—राजाधिराज श्री स्कंदगुप्त विक्रमादित्य की जय !

(सेना बढ़ती है, ऊपर से अस्त्रवर्षा होती है, घोर युद्ध के बाद हूण भागते हैं। साम्राज्य-सेना का, जयनाद करते हुए, शिखर पर अधिकार करना।)

नायक—(ऊपर देखता हुआ) सम्राट् ! आश्चर्य्य है, भागी हुई हूण-सेना कुभा के उस पार उतर जाना चाहती है !

स्कंद—क्या कहा !

नायक—कुछ मगध-सेना भी वहाँ है, परंतु वह तो जैसे उनका स्वागत कर रही है !

स्कंद०—विश्वासघात ! प्रतारणा ! नीच भटार्क !

नायक—फिर क्या आज्ञा है ?

स्कंद०—दुर्ग की रक्षा होनी चाहिये। उस पार की हूण-सेना यदि आ गई तो कृतघ्न भटार्क उन्हें मार्ग बतावेगा। वीरो ! शीघ्र उन्हे उसी पार रोकना होगा। अभी कुभा पार होने की संभावना है।

(नायक तुरही बजाता है, सैनिक इकट्ठे होते हैं।)

स्कंद०— (घबराहट से देखते हुए) शीघ्रता करो।

नायक—क्या ?

स्कंद०—नीच भटार्क ने बंध तोड़ दिया है, कुभा में जल बड़े वेग से बढ़ रहा है ! चलो शीघ्र—

(सब उतरना चाहते हैं, कुभा में अकस्मात् जल बढ़ जाता है ; सब बहते हुए दिखाई देते हैं।)

[अंधकार]

चतुर्थ अंक

[प्रकोष्ठ]

(विजया और अनन्तदेवी)

अनन्त०—क्या कहा ?

विजया—मैं आज ही पासा पलट सकती हूँ। जो झूला ऊपर उठ रहा है, उसे एक ही झटके में पृथ्वी चूमने के लिये विवश कर सकती हूँ।

अनन्त०—क्यों ? इतनी उत्तेजना क्यों है ? सुनूँ भी तो।

विजया—समझ जाओ।

अनन्त०—नहीं, स्पष्ट कहो।

विजया—भटार्क मेरा है !

अनन्त०—तो ?

विजया—उस राह से दूसरों को हटना होगा।

अनन्त०—कौन छीन रहा है ?

विजया—एक पाप-पङ्क में फँसी हुई निर्लज्ज नारी। क्या उसका नाम भी बताना होगा ? समझो, नहीं तो साम्राज्य का स्वप्न गला दबाकर भंग कर दिया जायगा।

अनन्त०—(हँसती हुई) मूर्ख रमणी ! तेरा भटार्क केवल मेरे कार्य्य-साधन का अस्त्र है, और कुछ नहीं। वह पुरगुप्त के ऊँचे सिंहासन की सीढ़ी है, समझो ?

विजया—समझो ; और तुम भी जान लो कि तुम्हारा नाश समीप है।

अनन्त०—(बनाती हुई) क्या तुम पुरगुप्त के साथ सिंहासन पर नहीं बैठना चाहती हो ? क्यों—वह भी तो कुमारगुप्त का पुत्र है ?

विजया—हाँ, वह कुमारगुप्त का पुत्र है, परन्तु वह तुम्हारे गर्भ से उत्पन्न है ! तुमसे उत्पन्न हुई सन्तान—छिः !

अनन्त०—क्या कहा ? समझकर कहना।

विजया—कहती हूँ, और फिर कहूँगी। प्रलोभन से, धमकी से, भय से, कोई भी मुझको भटार्क से नहीं वञ्चित कर सकता। प्रणय-वञ्चिता स्त्रियाँ अपनी राह के रोड़े—विघ्नों—को दूर करने के लिये वज्र से भी दृढ होती हैं। हृदय को छीन लेनेवाली स्त्री के प्रति हृतसर्वस्वा रमणी पहाड़ी नदियों से भयानक, ज्वालामुखी के विस्फोट से भी वीभत्स, और प्रलय की अनल-शिखा से भी लहरदार होती है। मुझे तुम्हारा सिंहासन नहीं चाहिये। मुझे क्षुद्र पुरगुप्त के विलास-जर्जर मन और यौवन में ही जीर्ण शरीर का अवलम्ब वांछनीय नहीं। कहे देती हूँ, हट जाओ, नहीं तो तुम्हारी समस्त कुमंत्रणाओं को एक फूँक में उड़ा दूँगी !

अनन्त०—क्या ? इतना साहस ! तुच्छ स्त्री ! तू जानती है कि किसके साथ बात कर रही है ? मैं वही हूँ—जो अश्वमेध-पराक्रम कुमारगुप्त से, बालों को सुगन्धित करने के लिये गंधचूर्ण जलवाती थी—जिसकी एक तीखी कोर से गुप्त-साम्राज्य डाँवाडोल हो रहा है, उसे तुम......एक सामान्य स्त्री ! जा-जा, ले अपने भटार्क को ;

मुझे ऐसे कीट-पतङ्गों की आवश्यकता नहीं। परन्तु स्मरण रखना, मैं हूँ अनन्तदेवी! तेरी कूटनीति के कंटकित कानन की दावाग्नि—तेरे गर्व-शैलशृङ्ग का वज्र! मैं वह आग लगाऊँगी, जो प्रलय के समुद्र से भी न बुझे!

(जाती है)

विजया—मैं कहीं को न रही! इधर भयानक पिशाचों की लीला-भूमि, उधर गम्भीर समुद्र! दुर्बल रमणी-हृदय! थोड़ी आँच में गरम, और शीतल हाथ फेरते ही ठंढा! क्रोध से अपने आत्मीय जनों पर विप उगल देना! जिनको क्षमा की आवश्यकता है—जिन्हें स्नेह के पुरस्कार की वांछा है, उनकी भूल पर कठोर तिरस्कार और जो पराये हैं, उनके साथ दौड़ती हुई सहानुभूति! यह मन का विष, यह बदलनेवाले हृदय की क्षुद्रता है। ओह! जब हम अनजान लोगों की भूल और दुःखों पर क्षमा या सहानुभूति प्रकट करते हैं, तो भूल जाते हैं कि यहाँ मेरा स्वार्थ नहीं है। क्षमा और उदारता वही सच्ची है, जहाँ स्वार्थ की भी बलि हो। अपना अतुल धन और हृदय दूसरों के हाथ में देकर चलूँ—कहाँ? किधर—(उन्मत्त भाव से प्रस्थान करना चाहती है)

(पदच्युत नायक का प्रवेश)

नायक—शांत हो।

विजया—कौन?

नायक—एक सैनिक।

विजया—दूर हो, मुझे सैनिकों से घृणा है।

नायक—क्यों सुन्दरी ?

विजया—क्रूर ! केवल अपने झूठे मान के लिये, बनावटी बड़प्पन के लिये, अपना दम्भ दिखलाने के लिये, एक अनियंत्रित हृदय का लोहों से खेल विडम्बना है ! किसकी रक्षा, किस दीन की सहायता के लिये तुम्हारे अस्त्र हैं ?

नायक—साम्राज्य की रक्षा के लिये।

विजया—झूठ। तुम सब को जंगली हिंस्र पशु होकर जन्म लेना था। डाकू ! थोड़े-से ठीकरों के लिये अमूल्य मानव-जीवन का नाश करनेवाले भयानक भेड़िये !

नायक—(स्वगत) पागल हो गई है क्या ?

विजया—स्नेहमयी देवसेना का शङ्का से तिरस्कार किया, मिलते हुए स्वर्ग को घमंड से तुच्छ समझा, देव-तुल्य स्कंदगुप्त से विद्रोह किया, किस लिये ? केवल अपना रूप, धन, यौवन दूसरे को दान करके उन्हें नीचा दिखाने के लिये ? स्वार्थपूर्ण मनुष्यों की प्रतारणा में पड़कर खो दिया—इस लोक का सुख, उस लोक की शान्ति ! आह !

नायक—शांत हो !

विजया—शांति कहाँ ? अपनों को दंड देने के लिये मैं स्वयं उनसे अलग हुई ; उन्हे दिखाने के लिये—'मैं भी कुछ हूँ' ! अपनी भूल थी, उसे अभिमान से उनके सिर दोष के रूप में मढ़

रक्खा था। उनपर झूठा अभियोग लगाकर नीच-हृदय को नित्य उत्तेजित कर रही थी। अब उसका फल मिला।

नायक—रमणी! भूला हुआ लौट आता है, खोया हुआ मिल जाता है; परन्तु जो जान-बूझकर भूलभुलइयाँ तोड़ने के अभिमान से उसमें घुसता है, वह उसी चक्रव्यूह में स्वयं मरता है, दूसरों को भी मारता है। शांति का—कल्याण का—मार्ग उन्मुक्त है। द्रोह को छोड़ दो, स्वार्थ को विस्मृत करो, सब तुम्हारा है।

विजया—(सिसकती हुई) मैं अनाथ निःसहाय हूँ!

नायक—(बनावटी रूप उतारता है) मैं शर्वनाग हूँ। मैं सम्राट का अनुचर हूँ। मगध की परिस्थिति देखकर अपने विषय अन्तर्वेद को लौट रहा हूँ।

विजया—क्या अन्तर्वेद के विषयपति शर्वनाग?

शर्व०—हाँ, परंतु देश पर एक भीषण आतंक है। भटार्क की पिशाच-लीला सफल होना चाहती है। विजया! चलो, देश के प्रत्येक बच्चे, बूढ़े और युवक को उसकी भलाई में लगाना होगा; कल्याण का मार्ग प्रशस्त करना होगा। आओ, यदि हम राजसिंहासन न प्रस्तुत कर सकें तो हमें अधीर न होना चाहिये; हम देश की प्रत्येक गली को झाड़ू देकर ही इतना स्वच्छ कर दें कि उसपर चलनेवाले राजमार्ग का सुख पावें!

विजया—(कुछ सोचकर) तुमने सच कहा। सबको कल्याण के शुभागमन के लिये कटिबद्ध होना चाहिये। चलो—

[दोनों का प्रस्थान]

[भटार्क का शिविर]

(नर्त्तकी गाती है)

भाव-निधि में लहरियाँ उठतीं तभी
भूलकर भी जब स्मरण होता कभी
मधुर मुरली फूँक दी तुमने भला
नींद मुझको आ चली थी बस अभी
सब रगों में फिर रही हैं बिजलियाँ
नील नीरद ! क्या न बरसोगे कभी
एक झोंका और मलयानिल अहा
क्षुद्र कलिका है खिली जाती अभी
कौन मर-मरकर जियेगा इस तरह
यह समस्या हल न होगी क्या कभी

(कमला और देवकी का प्रवेश)

देवकी—भटार्क ! कहाँ है मेरा सर्वस्व ? बता दे—मेरे आनन्द का उत्सव, मेरी आशा का सहारा, कहाँ है ?

भटार्क—कौन !

कमला—कृतघ्न ! नहीं देखता है, यह वही देवी हैं—जिन्होंने तेरे नारकीय अपराध को क्षमा किया था—जिन्होंने तुझ-से घिनौने कीड़े को भी मरने से बचाया था। वही, वही, देव-प्रतिमा महादेवी देवकी।

भटार्क—(पहचानकर) कौन ? मेरी माँ !

कमला—तू कह सकता है। परन्तु मुझे तुझको पुत्र कहने में सङ्कोच होता है, लज्जा से गड़ी जा रही हूँ ! जिस जननी की

संतान—जिसका अभागा पुत्र—ऐसा देशद्रोही हो, उसको क्या मुँह दिखाना चाहिये ? आह भटार्क !

भटार्क—राजमाता और मेरी माता !

देवकी—बता भटार्क ! वह आर्य्यावर्त्त का रत्न कहाँ है ? देश का बिना दाम का सेवक, वह जन-साधारण के हृदय का स्वामी, कहाँ है ? उससे शत्रुता करते हुए तुझे……

कमला—बोल दे भटार्क !

भटार्क—क्या कहूँ, कुभा की क्षुब्ध लहरों से पूछो, हिमवान की गल जानेवाले बर्फों से पूछो कि वह कहाँ है। मैं नहीं……

देवकी—आह ! गया मेरा स्कंद !! मेरा प्राण !!!

(गिरती है, मृत्यु !)

कमला—(उसे सम्हालती हुई) देख पिशाच ! एक बार अपनी विजय पर प्रसन्नता से खिलखिला ले। नीच ! पुण्य-प्रतिमा को, स्त्रियों की गरिमा को, धूल में लोटता हुआ देखकर, एक बार हृदय खोलकर हँस ले। हा देवी !

भटार्क—क्या ! (भयभीत होकर देखता है)

कमला—इस यंत्रणा और प्रतारणा से भरे हुए संसार की पिशाच-भूमि को छोड़कर अक्षय लोक को गई, और तू जीता रहा—सुखी घरों में आग लगाने, हाहाकार मचाने और देश को अनाथ बनाकर उसकी दुर्दशा कराने के लिये—नरक के कीड़े ! तू जीता रहा !!

भटार्क—मा, अधिक न कहो। साम्राज्य के विरुद्ध कोई

अपराध करने का मेरा उद्देश नहीं था; केवल पुरगुप्त को सिंहासन पर बिठाने की प्रतिज्ञा से प्रेरित होकर मैंने यह किया। स्कंदगुप्त न सही, पुरगुप्त सम्राट होगा।

कमला—अरे मूर्ख! अपनी तुच्छ बुद्धि को सत्य मानकर, उसके दर्प में भूलकर, मनुष्य कितना बड़ा अपराध कर सकता है! पामर! तू सम्राटों का नियामक बन गया? मैंने भूल की; सूतिका-गृह में ही तेरा गला घोंटकर क्यों न मार डाला! आत्म-हत्या के अतिरिक्त अब और कोई प्रायश्चित्त नहीं।

भटार्क—मा, क्षमा करो। आज से मैंने शस्त्र-त्याग किया। मैं इस संघर्ष से अलग हूँ, अब अपनी दुर्बुद्धि से तुम्हें कष्ट न पहुँचाऊँगा। (तलवार डाल देता है)

कमला—तूने विलम्ब किया भटार्क! महादेवी......एक दिन जिसके नाम पर गुप्त-साम्राज्य नतमस्तक होता था, आज उसकी अन्त्येष्टि-क्रिया के लिये कोई उपाय नहीं!......हा दुर्दैव!

भटार्क—(ताली बजाता है, सैनिक आते हैं) महादेवी की अन्त्येष्टि-क्रिया राजसम्मान से होनी चाहिये। चलो, शीघ्रता करो!

(देवकी के शव को एक ऊँचे स्थान पर दोनों मिलकर रखते हैं)

कमला—भटार्क! इस पुण्यचरण के स्पर्श से, संभव है, तेरा पाप छूट जाय।

[भटार्क और कमला पर तीव्र आलोक]

[काश्मीर]

(न्यायाधिकरण में मातृगुप्त)

(एक स्त्री और दंडनायक)

मातृगुप्त—नन्दीग्राम के दंडनायक देवनंद ! यह क्या है ?

देवनंद—कुमारामात्य की जय हो ! बहुत परिश्रम करने पर भी मैं इस रमणी के अपहृत धन का पता न लगा सका। इसमें मेरा अपराध अधिक नहीं है।

मातृगुप्त—फिर किसका है ? तुम गुप्तसाम्राज्य का विधान भूल गये ! प्रजा की रक्षा के लिये 'कर' लिया जाता है। यदि तुम उसकी रक्षा न कर सके, तो वह अर्थ तुम्हारी भृति से कटकर इस रमणी को मिलेगा।

देवनंद—परंतु वह इतना अधिक है कि मेरे जीवन-भर की भृति से भी उसका भरना असम्भव है।

मातृगुप्त—तब राज-कोष उसे देगा, और तुम उसका फल भोगोगे।

देवनंद—परंतु मैं पहले ही निवेदन कर चुका हूँ, इसमें मेरा अपराध अधिक नहीं है। यह श्रीनगर की सबसे अधिक समृद्धि-शालिनी वेश्या है। यह अपने अंतरंग लोगों का परिचय भी नहीं बताती; फिर मैं कैसे पता लगाऊँ ? गुप्तचर भी थक गये।

मातृगुप्त—हाँ, इसका नाम मैं भूल गया।

देवनंद—मालिनी।

मातृगुप्त—क्या ! मालिनी ? (कुछ सोचता हुआ) अच्छा, जाओ, कोषाध्यक्ष को भेज दो ।

(देवनद का प्रस्थान)

मातृगुप्त—मालिनी ! अवगुंठन हटाओ, सिर ऊँचा करो ; मैं अपना भ्रम-निवारण करना चाहता हूँ ।

(अवगुंठन हटाकर मालिनी मातृगुप्त की ओर देखती है, मातृगुप्त चकित होकर उसको देखता है ।)

मातृगुप्त —तुम कौन हो—मालिनी ? छलना ! नहीं-नहीं, भ्रम है !

मालिनी—नहीं मातृगुप्त, मैं ही हूँ ! अवगुंठन केवल इसी लिये था कि मैं तुम्हें मुख नहीं दिखला सकती थी । मातृगुप्त ! मैं वही हूँ ।

मातृगुप्त—तुम ? नहीं मेरी मालिनी ! मेरे हृदय की आराध्य देवता—वेश्या ! असम्भव । परंतु नहीं, वही है मुख ! यद्यपि विलास ने उसपर अपनी मलिन छाया डाल दी है—उसपर अपने अभिशाप की छाप लगा दी है; पर तुम वही हो । हा दुर्दैव !

मालिनी—दुर्दैव !

मातृगुप्त—मैं आज तक तुम्हें पूजता था । तुम्हारी पवित्र स्मृति को कंगाल की निधि की भाँति छिपाये रहा । मूर्ख मैं... आह मालिनी ! मेरे शून्य भाग्याकाश के मंदिर का द्वार खोल कर तुम्हीं ने उनींदी उषा के सदृश झाँका था, और मेरे भिखारी संसार पर स्वर्ण बिखेर दिया था । तुम्हीं मालिनी ! तुमने सोने के लिये नंदन का अम्लान कुसुम बेंच डाला । जाओ मालिनी ! राज-कोष से अपना धन ले लो ।

मालिनी—(मातृगुप्त के पैरों पर गिरती हुई) एक बार क्षमा कर दो मातृगुप्त !

मातृगुप्त—मैं इतना दृढ़ नहीं हूँ मालिनी ! कि तुम्हें इस अपराध के कारण भूल जाऊँ। पर वह स्मृति दूसरे प्रकार की होगी। उसमें ज्वाला न होगी। धुँआ उठेगा और तुम्हारी मूर्त्ति धुँधली होकर सामने आवेगी ! जाओ !

(मालिनी का प्रस्थान, चर का प्रवेश)

चर—कुमारामात्य की जय हो !

मातृगुप्त—क्या समाचार है ? सम्राट् का पता लगा ?

चर—नहीं। पंचनद हूणों के अधिकार मे है, और वे काश्मीर पर भी आक्रमण किया चाहते है।

मातृ०—जाओ !

(चर का प्रस्थान)

मातृ०—तो सब गया ! मेरी कल्पना के सुंदर स्वप्नों का प्रभात हो रहा है। नाचती हुई नीहार-कणिकाओं पर तीखी किरणों के भाले ! आह ! सोचा था कि देवता जागेंगे, एक बार आर्यावर्त्त में गौरव का सूर्य्य चमकेगा, और पुण्यकर्मों से समस्त पाप-पङ्क धो जायँगे; हिमालय से निकली हुई सप्तसिंधु तथा गंगा-यमुना की घाटियाँ, किसी आर्य्य सद्गृहस्थ के स्वच्छ और पवित्र आँगन-सी, भूखी जाति के निर्वासित प्राणियों को अन्नदान देकर संतुष्ट करेंगी ; और आर्य्यजाति अपने दृढ़ सबल हाथों में शस्त्र-ग्रहण करके पुण्य का पुरस्कार और पाप का तिरस्कार करती हुई, अचल हिमाचल की भाँति सिर ऊँचा किये, विश्व को

सदाचरण के लिये सावधान करती रहेगी ; आलस्य-सिंधु में शेष-पर्य्यंक-शायी सुषुप्तिनाथ जागेंगे ; सिंधु में हलचल होगी, रत्नाकर से रत्नराजियाँ आर्य्यावर्त्त की वेला-भूमि पर निछावर होंगी। उद्बोधन के गीत गाये, हृदय के उद्गार सुनाये, परन्तु पासा पलटकर भी न पलटा ! प्रवीर उदार-हृदय स्कंदगुप्त, कहाँ हैं ? तब, काश्मीर ! तुमसे विदा !

[प्रस्थान]

[नगर-प्रांत में पथ]

(धातुसेन और प्रख्यातकीर्त्ति)

प्रख्यात०—प्रिय वयस्य ! आज तुम्हें आये तीन दिन हुए, क्या सिंहल का राज्य तुम्हे भारत-पर्य्यटन के सामने तुच्छ प्रतीत होता है ?

धातुसेन—भारत समग्र विश्व का है, और सम्पूर्ण वसुन्धरा इसके प्रेम-पाश मे आबद्ध है। अनादि-काल से ज्ञान की, मानवता की, ज्योति यह विकीर्ण कर रहा है। वसुन्धरा का हृदय—भारत—किस मूर्ख को प्यारा नहीं है ? तुम देखते नहीं कि विश्व का सबसे ऊँचा शृंग इसके सिरहाने, और सबसे गम्भीर तथा विशाल समुद्र इसके चरणों के नीचे है ? एक-से-एक सुंदर दृश्य प्रकृति ने अपने इस घर में चित्रित कर रक्खा है। भारत के कल्याण के लिये मेरा सर्वस्व अर्पित है। किन्तु देखता हूँ, बौद्ध जनता और संघ भी साम्राज्य के विरुद्ध हैं। महाबोधि-विहार के संघ-महास्थविर ने निर्वाण-लाभ किया है, उस पद के उपयुक्त भारत-भर में केवल प्रख्यातकीर्त्ति है। तुमसे संघ की मलिनता बहुत-कुछ धुल जायगी।

प्रख्यात०—राजमित्र ! मुझे क्षमा कीजिये। मैं धर्म्म-लाभ करने के लिये भिक्षु हुआ हूँ, महास्थविर बनने के लिये नहीं।

धातुसेन—मित्र ! मैं मातृगुप्त से मिलना चाहता हूँ।

प्रख्यात०—वह तो विरक्त होकर घूम रहा है !

धातुसेन—तुमको मेरे साथ काश्मीर चलना होगा।

प्रख्यात०—पर अभी तो कुछ दिन ठहरोगे ?

धातुसेन—जहाँ तक संभव हो, शीघ्र चलो।

(एक भिक्षु का प्रवेश)

भिक्षु—आचार्य्य ! महान अनर्थ !

प्रख्यात०—क्या है, कुछ कहो भी ?

भिक्षु—विहार के समीप जो चतुष्पथ का चैत्य है, वहाँ कुछ ब्राह्मण बलि किया चाहते हैं ! इधर भिक्षु और बौद्ध जनता उत्तेजित है।

धातु०—चलो, हम लोग भी चलें—उन उत्तेजित लोगों को शान्त करने का प्रयत्न करें।

[सब जाते हैं]

[विहार के समीप चतुष्पथ। एक ओर ब्राह्मण लोग बलि का उपकरण लिए, दूसरी ओर भिक्षु और बौद्ध जनता उत्तेजित। दंडनायक का प्रवेश]

दंडनायक—नागरिकगण! यह समय अन्तर्विद्रोह का नहीं है। देखते नहीं हो कि साम्राज्य बिना कर्णधार का पोत होकर डगमगा रहा है, और तुम लोग क्षुद्र बातों के लिये परस्पर झगड़ते हो!

ब्राह्मण—इन्हीं बौद्धों ने गुप्त शत्रु का काम किया है। कई बार के विताड़ित हूण इन्हीं लोगों की सहायता से पुनः आये हैं। इन गुप्त शत्रुओं को कृतघ्नता का उचित दंड मिलना चाहिये।

श्रमण—ठीक है। गंगा, यमुना और सरयू के तट पर गड़े हुए यज्ञयूप सद्धर्म्मियों की छाती में ठुकी हुई कीलों की तरह अब भी खटकते हैं। हम लोग निस्सहाय थे, क्या करते? विधर्म्मी विदेशी की शरण मे भी यदि प्राण बच जायँ और धर्म्म की रक्षा हो। राष्ट्र और समाज मनुष्यों के द्वारा बनते है—उन्हीं के सुख के लिये। जिस राष्ट्र और समाज से हमारी सुख-शान्ति मे बाधा पड़ती हो, उसका हमें तिरस्कार करना ही होगा। इन संस्थाओं का उद्देश है—मानवों की सेवा। यदि वे हमीं से अवैध सेवा लेना चाहें और हमारे कष्टों को न हटावें, तो हमे उसकी सीमा के बाहर जाना ही पड़ेगा।

ब्राह्मण—ब्राह्मणों को इतनी हीन अवस्था में बहुत दिनों तक विश्वनियंता नहीं देख सकते। जो जाति विश्व के मस्तिष्क का शासन करने का अधिकार लिए उत्पन्न हुई है, वह कभी चरणों के

नीचे न बैठेगी। आज यहाँ बलि होगी—हमारे धर्म्माचरण में स्वयं विधाता भी बाधा नहीं डाल सकते।

श्रमण—निरीह प्राणियों के वध में कौन-सा धर्म्म है ब्राह्मण? तुम्हारी इसी हिंसा-नीति और अहंकारमूलक आत्मवाद का खंडन तथागत ने किया था। उस समय तुम्हारा ज्ञान-गौरव कहाँ था? क्यों नतमस्तक होकर समग्र जम्बूद्वीप ने उस ज्ञान-रणभूमि के प्रधान मल्ल के समक्ष हार स्वीकार की? तुम हमारे धर्म पर अत्याचार किया चाहते हो, यह नहीं हो सकेगा। इन पशुओं के बदले हमारी बलि होगी। रक्त-पिपासु दुर्दान्त ब्राह्मण-देव! तुम्हारी पिपासा हम अपने रुधिर से शांत करेंगे।

धातुसेन—(प्रवेश करके) अहंकारमूलक आत्मवाद का खंडन करके गौतम ने विश्वात्मवाद को नष्ट नहीं किया। यदि वैसा करते तो इतनी करुणा की क्या आवश्यकता थी? उपनिषदों के नेति-नेति से ही गौतम का अनात्मवाद पूर्ण है। यह प्राचीन महर्षियों का कथित सिद्धान्त, मध्यमा-प्रतिपदा के नाम से, संसार में प्रचारित हुआ; व्यक्तिरूप में आत्मा के सदृश कुछ नहीं है। वह एक सुधार था, उसके लिये रक्तपात क्यों?

दंडनायक—देखो, यदि ये हठी लोग कुछ तुम्हारे समझाने से मान जायँ, अन्यथा यहाँ बलि न होने दूँगा।

ब्राह्मण—क्यों न होने दोगे? अधार्मिक शासक! क्यों न होने दोगे? आज गुप्त कुचक्रों से गुप्तसाम्राज्य शिथिल है। कोई क्षत्रिय राजा नहीं, जो ब्राह्मण के धर्म्म की रक्षा कर सके—जो

धर्म्माचरण के लिये अपने राजकुमारों को तपस्वियों की रक्षा में नियुक्त करें! आह धर्म्मदेव! तुम कहाँ हो?

धातुसेन—सप्तसिंधु-प्रदेश नृशंस हूणों से पादाक्रांत है। जाति भीत और त्रस्त है, और उसका धर्म्म असहाय अवस्था में पैरों से कुचला जा रहा है। क्षत्रिय राजा, धर्म्म का पालन कराने वाला राजा, पृथ्वी पर क्यों नहीं रह गया? आपने इसे विचारा है? क्यों ब्राह्मण टुकड़ो के लिये अन्य लोगों की उपजीविका छीन रहे हैं? क्यों एक वर्ण के लोग दूसरों की अर्थकरी वृत्तियाँ ग्रहण करने लगे हैं? लोभ ने तुम्हारे धर्म्म का व्यवसाय चला दिया। दक्षिणाओं की योग्यता से—स्वर्ग, पुत्र, धन, यश, विजय और मोक्ष तुम बेचने लगे। कामना से अंधी जनता के विलासी-समुदाय के ढोंग के लिये तुम्हारा धर्म्म आवरण हो गया है। जिस धर्म्म के आचरण के लिये पुष्कल स्वर्ण चाहिये, वह धर्म्म जन-साधारण की सम्पत्ति नहीं! धर्म्म-वृक्ष के चारों ओर स्वर्ण के काँटेदार जाल फैलाये गये हैं, और व्यवसाय की ज्वाला से वह दग्ध हो रहा है। जिन धनवानों के लिये तुमने धर्म्म को सुरक्षित रक्खा, उन्होंने समझा कि धर्म्म धन से खरीदा जा सकता है; इसलिये धनोपार्जन मुख्य हुआ और धर्म्म गौण। जो पारस्य-देश की मूल्यवान मदिरा रात को पी सकता है, वह धार्मिक बने रहने के लिये प्रभात में एक गो-निष्क्रय भी कर सकता है। धर्म्म को बचाने के लिये तुम्हें राजशक्ति की आवश्यकता हुई। धर्म इतना निर्बल है कि वह पाशव बल के द्वारा सुरक्षित होगा?

ब्राह्मण—तुम कौन हो? मूर्ख उपदेशक! हट जाओ।

तुम नास्तिक प्रच्छन्न बौद्ध! तुमको अधिकार क्या है कि हमारे धर्म्म की व्याख्या करो?

धातुसेन—ब्राह्मण क्यों महान हैं? इसीलिये कि वे त्याग और क्षमा की मूर्त्ति हैं। इसीके बल पर बड़े-बड़े सम्राट उनके आश्रमो के निकट निरस्त्र होकर जाते थे, और वे तपस्वी ऋत और अमृत वृत्ति से जीवन-निर्वाह करते हुए सायं-प्रातः अग्निशाला में भगवान से प्रार्थना करते थे—

सर्वेऽपि सुखिनः सन्तु सर्वे सन्तु निरामयाः
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद्दुःखमाप्नुयात

—आप लोग उन्हीं ब्राह्मणों की संतान हैं, जिन्होंने अनेक यज्ञों को एक बार ही बंद कर दिया था। उनका धर्म्म समयानुकूल प्रत्येक परिवर्त्तन को स्वीकार करता है; क्योंकि मानव-बुद्धि ज्ञान का—जो वेदों के द्वारा हमें मिला है—प्रस्तार करेगी, उसके विकास के साथ बढ़ेगी; और यही धर्म्म की श्रेष्ठता है।

प्रख्यातकीर्त्ति—धर्म के अंधभक्तो! मनुष्य अपूर्ण है। इसलिये सत्य का विकास जो उसके द्वारा होता है, अपूर्ण होता है। यही विकास का रहस्य है। यदि ऐसा न हो तो ज्ञान की वृद्धि असंभव हो जाय। प्रत्येक प्रचारक को कुछ-न-कुछ प्राचीन असत्य-परम्पराओं का आश्रय इसीसे ग्रहण करना पड़ता है। सभी धर्म्म, समय और देश की स्थिति के अनुसार, विवृत हो रहे हैं और होंगे। हम लोगों को हठधर्म्मी से उन आगंतुक-

क्रमिक पूर्णता प्राप्त करनेवाले ज्ञानों से मुँह न फेरना चाहिये। हम लोग एक ही मूल धर्म्म की दो शाखाएँ हैं। आओ, हम दोनों अपने उदार विचार के फूलों से दुःख-दग्ध मानवों का कठोर पथ कोमल करें।

बहुत-से लोग—ठीक तो है, ठीक तो है। हम लोग व्यर्थ आपस मे ही झगड़ते हैं और आततायियों को देखकर घर में घुस जाते हैं। हूणों के सामने तलवारें लेकर इसी तरह क्यों नहीं अड़ जाते?

दंडनायक—यही तो बात है नागरिक!

प्रख्यातकीर्त्ति—मैं इस विहार का आचार्य्य हूँ, और मेरी सम्मति धार्मिक झगड़ों में बौद्धों को माननी चाहिये। मै जानता हूँ कि भगवान ने प्राणिमात्र को बराबर बनाया है, और जीव-रक्षा इसी लिये धर्म्म है। किन्तु जब तुम लोग स्वयं इसके लिये युद्ध करोगे, तो हत्या की संख्या बढ़ेगी ही। अतः यदि तुममें कोई सच्चा धार्मिक हो तो वह आगे आवे, और ब्राह्मणों से पूछे कि आप मेरी बलि देकर इतने जीवों को छोड़ सकते हैं। क्योंकि इन पशुओं से मनुष्यों का मूल्य ब्राह्मणों की दृष्टि में भी विशेष होगा। आइये, कौन आता है, किसे बोधिसत्व होने की इच्छा है?

(बौद्धों में से कोई नहीं हिलता)

प्रख्यात०—(हँसकर) यही आपका धर्म्मोन्माद था? एक युद्ध करनेवाली मनोवृत्ति की प्रेरणा से उत्तेजित होकर अधर्म्म करना और धर्म्माचरण की दुन्दुभी बजाना—यही आपको

करुणा की सीमा है ? जाइये, घर लौट जाइये। (ब्राह्मण से) आओ रक्त-पिपासु धार्म्मिक ! लो, मेरा उपहार देकर अपने देवता को संतुष्ट करो ! (सिर झुका लेता है)

ब्राह्मण—(तलवार फेंककर) धन्य हो महाश्रमण ! मैं नहीं जानता था कि तुम्हारे-ऐसे धार्मिक भी इसी संघ में हैं ! मैं बलि नहीं करूँगा।

[जनता में जयजयकार; सब धीरे-धीरे जाते हैं]

[पथ में विजया और मातृगुप्त]

विजया—नहीं कविवर ! ऐसा नहीं।

मातृगुप्त—कौन, विजया ?

विजया—आश्चर्य्य और शोक का समय नहीं है। सुकवि-शिरोमणे ! गा चुके मिलन-संगीत, गा चुके कोमल कल्पनाओं के लचीले गान, रो चुके प्रेम के पचड़े ? एक बार वह उद्बोधन-गीत गा दो कि भारतीय अपनी नश्वरता पर विश्वास करके अमर भारत की सेवा के लिये सन्नद्ध हो जायँ !

मातृगुप्त—देवी ! तुम देवी......

विजया—हाँ मातृगुप्त ! एक प्राण बचाने के लिये जिसने तुम्हारे हाथ में काश्मीर-मंडल दे दिया था, आज तुम उसी सम्राट् को खोजते हो। एक नहीं, ऐसे सहस्र स्कन्दगुप्त, ऐसे सहस्रों देव-तुल्य उदार युवक, इस जन्म-भूमि पर उत्सर्ग हो जायँ ! सुना दो वह संगीत—जिससे पहाड़ हिल जाय और समुद्र काँपकर रह जाय ; अँगड़ाइयाँ लेकर मुचकुन्द की मोह-निद्रा से भारतवासी जग पड़ें। हम-तुम गली-गली कोने-कोने पर्य्यटन करेंगे, पैर पड़ेंगे, लोगों को जगावेंगे !

मातृगुप्त—वीरबाले ! तुम धन्य हो। आज से मैं यही करूँगा। (देखकर) वह लो—चक्रपालित आ रहा है !

(चक्रपालित का प्रवेश)

चक्र०—लक्ष्मी की लीला, कमल के पत्तों पर जल-बिन्दु, आकाश के मेघ-समारोह—अरे इनसे भी क्षुद्र नीहार-कणिकाओं

की प्रभात-लीला। मनुष्य की अदृष्ट-लिपि वैसी ही है जैसी अग्नि-रेखाओं से कृष्ण मेघ में बिजली की वर्णमाला—एक क्षण में प्रज्वलित, दूसरे क्षण में विलीन होनेवाली। भविष्यत् का अनुचर तुच्छ मनुष्य केवल अतीत का स्वामी है!

मातृगुप्त—बन्धु चक्रपालित!

चक्र०—कौन, मातृगुप्त?

भीम०—(सहसा प्रवेश करके) कहाँ है मेरा भाई, मेरे हृदय का बल, भुजाओं का तेज, वसुन्धरा का शृंगार, वीरता का वरणीय बंधु, मालव-मुकुट आर्य्य बंधुवर्म्मा?

(प्रख्यातकीर्ति और श्रमण का प्रवेश)

प्रख्यात०—सब पागल, लुट गये-से, अनाथ और आश्रय-हीन—यही तो हैं! आर्य्यराष्ट्र के कुचले हुए अंकुर, भग्न साम्राज्य-पोत के टूटे हुए पटरे और पतवार, ऐसे वीर हृदय! ऐसे उदार!!

मातृगुप्त—तुम कौन हो?

प्रख्यात०—सम्भवतः तुम्हीं मातृगुप्त हो!

मातृगुप्त—(शंका से देखता हुआ) क्यों अहेरी कुत्तों के समान सूँघते हुए यहाँ भी! परंतु तुम ......

प्रख्यात०—संदेह मत करो मातृगुप्त! शैशव-सहचर कुमार धातुसेन की आज्ञा से मैं तुम लोगों को खोज रहा हूँ। यह लो प्रमाण-पत्र।

मातृगुप्त—(पढ़कर) धन्य सिंहल के युवराज श्रमण!

[illegible]

[illegible]
[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[कमला की कुटी]

(विचित्र अवस्था में स्कंदगुप्त का प्रवेश)

स्कंद०—बौद्धों का निर्वाण, योगियों की समाधि और पागलों की-सी सम्पूर्ण विस्मृति मुझे एक साथ चाहिये। चेतना कहती है कि तू राजा है, और उत्तर में जैसे कोई कहता है कि तू खिलौना है—उसी खिलवाड़ी वटपत्रशायी बालक के हाथों का खिलौना है। तेरा मुकुट श्रमजीवी की टोकरी से भी तुच्छ है!

करुणा-सहचर! क्या जिसपर कृपा होती है, उसीको दुःख का अमोघ दान देते हो? नाथ! मुझे दुःखों से भय नहीं, संसार के संकोच-पूर्ण संकेतों की लज्जा नहीं। वैभव की जितनी कड़ियाँ टूटती हैं, उतना ही मनुष्य बंधनों से छूटता है, और तुम्हारी ओर अग्रसर होता है! परन्तु······यह ठीकरा इसी सिर पर फूटने को था! आर्य्य-साम्राज्य का नाश इन्हीं आँखो को देखना था! हृदय काँप उठता है, देशाभिमान गरजने लगता है! मेरा स्वत्व न हो, मुझे अधिकार की आवश्यकता नहीं। यह नीति और सदाचारों का महान आश्रय-वृक्ष—गुप्तसाम्राज्य—हरा-भरा रहे, और कोई भी इसका उपयुक्त रक्षक हो। आह! जाने दो, गया, सब कुछ गया! मन बहलाने को कोई वस्तु न रही। कर्त्तव्य—विस्मृत; भविष्य—अंधकार-पूर्ण, लक्ष्यहीन दौड़ और अनंत सागर का संतरण है!

बजा दो वेणु मनमोहन! बजा दो
हमारे सुप्त जीवन को जगा दो

विमल स्वातंत्र्य का बस मंत्र फूँको
हमें सब भीति-बंधन से छुड़ा दो
सहारा उन अँगुलियों का मिले हाँ
रसीले राग में मन को मिला दो
तुम्हीं सत हो इसीकी चेतना हो
इसे आनन्दमय जीवन बना दो

(प्रार्थना में झुकता है; उन्मत्त भाव से शर्वनाग का प्रवेश)

शर्व०—छीन लिया, गोद से छीन लिया; सोने के लोभ से मेरे लालों को शूल पर के माँस की तरह सेंकने लगे ! जिनपर विश्व-भर का भांडार लुटाने को मैं प्रस्तुत था, उन्हीं गुदड़ी के लालों को राक्षसों ने—हूणों ने—लुटेरों ने—लूट लिया ! किसने आहों को सुना ?—भगवान ने ? नहीं, उस निष्ठुर ने नहीं सुना। देखते हुए भी न देखा। आते थे कभी एक पुकार पर, दौड़ते थे कभी आधी आह पर, अवतार लेते थे कभी आर्य्यों की दुर्दशा से दुखी होकर; अब नहीं। देश के हरे कानन चिता बन रहे हैं। धधकती हुई नाश की प्रचंड ज्वाला दिग्दाह कर रही है। अपने ज्वालामुखियो को बर्फ़ की मोटी चादर से छिपाये हिमालय मौन है, पिघलकर क्यों नहीं समुद्र से जा मिलता ? अरे जड़, मूक, बधिर, प्रकृति के टीले !

(उन्मत्त भाव से प्रस्थान)

स्कंद०—कौन है ? यह शर्वनाग है क्या ? क्या अन्तर्वेद भी हूणों से पादाक्रांत हुआ ? अरे आर्य्यावर्त्त के दुर्दैव बिजली के

अक्षरों से क्या भविष्यत् लिख रहा है? भगवन्! यह अर्धोन्मत्त शर्व! आर्य्यसाम्राज्य की हत्या का कैसा भयानक दृश्य है? कितना वीभत्स है! सिंहों की विहारस्थली में शृगाल-वृन्द सड़ी लोथ नोच रहे हैं!

(पगली रामा का प्रवेश; स्कंद को देखकर)

रामा—लुटेरा है तू भी! क्या लेगा, मेरी सूखी हड्डियाँ? तेरे दाँतों से टूटेंगी? देख तो—(हाथ बढ़ाती है)

स्कंद॰—कौन? रामा!

रामा—(आश्चर्य से) मैं रामा हूँ! हाँ, जिसकी संतान को हूणों ने पीस डाला! (ठहरकर) मेरी? मेरी संतान! इन अभागों की-सी वे नहीं थीं। वे तो तलवार की बारीक धार पर पैर फैलाकर सोना जानती थीं! धधकती हुई ज्वाला में हँसते हुए कूद पड़ती थीं। तुम (देखती हुई) लुटेरे भी नहीं, उहूँ, कायर भी नहीं; अकर्म्मण्य बातों में भुलानेवाले तुम कौन हो? देखा था एक दिन! वही तो है जिसने अपनी प्रचंड हुङ्कार से दस्युओं को कँपा दिया था, ठोकर मारकर सोई हुई अकर्म्मण्य जनता को जगा दिया था, जिसके नाम से रोएँ खड़े हो जाते थे, भुजाएँ फड़कने लगती थीं। वही स्कंद—रमणियों का रक्षक, बालकों का विश्वास, वृद्धों का आश्रय, और आर्य्यावर्त्त की छत्रच्छाया। नहीं, भ्रम हुआ! तुम निष्प्रभ, निस्तेज, उसीके मलिन-चित्र-से तुम कौन हो? (प्रस्थान)

स्कंद॰—(बैठकर) आह! मैं वही स्कंद हूँ—अकेला, निस्सहाय!

(कमला कुटी खोलकर बाहर निकलती है)

कमला—कौन कहता है तुम अकेले हो ? समग्र संसार तुम्हारे साथ है। स्वानुभूति को जागृत करो। यदि भविष्यत् से डरते हो कि तुम्हारा पतन ही समीप है, तो तुम उस अनिवार्य्य स्रोत से लड़ जाओ। तुम्हारे प्रचंड और विश्वासपूर्ण पदाघात से विंध्य के समान कोई शैल उठ खड़ा होगा, जो उस विघ्न-स्रोत को लौटा देगा। राम और कृष्ण के समान क्या तुम भी अवतार नहीं हो सकते ? समझ लो, जो अपने कर्म्मों को ईश्वर का कर्म्म समझकर करता है, वही ईश्वर का अवतार है। उठो स्कंद ! आसुरी वृत्तियों का नाश करो, सोनेवालों को जगाओ, और रोनेवालों को हँसाओ। आर्य्यावर्त्त तुम्हारे साथ होगा और उस आर्य्य-पताका के नीचे समग्र विश्व होगा। वीर !

स्कंद०—कौन तुम ? भटार्क की जननी !

(नेपथ्य से क्रन्दन—'बचाओ बचाओ !' का शब्द)

स्कंद०—कौन ? देवसेना का-सा शब्द ! मेरा खड्ग कहाँ है ? (जाता है)

(देवसेना का पीछा करते हुए हूण का प्रवेश)

देवसेना—भीम ! भाई ! मुझे इस अत्याचारी से बचाओ, कहाँ गये ?

हूण—कौन तुझे बचाता है ! (पकड़ना चाहता है, देवसेना छुरी निकालकर आत्म-हत्या किया चाहती है। पर्णदत्त सहसा एक ओर

से आकर एक हाथ से हूण की गर्दन, दूसरे हाथ से देवसेना की छुरी पकड़ता है।)

हूण—क्षमा हो!

पर्णदत्त—अत्याचारी! जा, तुझे छोड़ देता हूँ। आ बेटी, हम लोग चलें महादेवी की समाधि पर।

कमला—कहाँ, वहीं—कनिष्क के स्तूप के पास?

देवसेना—हाँ, कौन—कमला देवी?

कमला—वही अभागिनी।

देवसेना—अच्छा, जाती हूँ; फिर मिलूँगी।

(पर्णदत्त के साथ देवसेना का प्रस्थान)

(स्कंद का प्रवेश)

स्कंद०—कोई नहीं मिला। कहाँ से वह पुकार आई थी? मेरा हृदय व्याकुल हो उठा है। सच्चे मित्र बंधुवर्म्मा की धरोहर! ओह!

कमला—वह सुरक्षित है, घबराइये नहीं। कनिष्क के स्तूप के पास आपकी माता की समाधि है, वहीं पर पहुँचा दी गई है।

स्कंद०—मा! मेरी जननी! तू भी न रही! हा!

(मूर्च्छित होता है; कमला उसे कुटी में उठा ले जाती है।)

[पटाक्षेप]

पंचम अंक

[पथ में मुद्गल]

मुद्गल—राजा से रंक और ऊपर से नीचे; कभी दुर्वृत्त दानव, कभी स्नेह-संवलित मानव; कहीं वीणा की झनकार, कहीं दीनता का तिरस्कार। (सिरपर हाथ रखकर बैठ जाता है)

भाग्यचक्र! तेरी बलिहारी! जयमाला यह सुनकर कि बंधुवर्म्मा वीरगति को प्राप्त हुए, सती हो गई, और देवसेना को लेकर बूढ़ा पर्णदत्त देवकुलिक का-सा महादेवी की समाधि पर जीवन व्यतीत कर रहा है। चक्रपालित, भीमवर्म्मा और मातृ-गुप्त, राजाधिराज को खोज रहे है। सब विक्षिप्त! सुना है कि विजया का मन कुछ फिरा है, वह भी इन्हो लोगो के साथ मिली है; परंतु उसपर विश्वास करने का मन नहीं करता। अनंतदेवी ने पुरगुप्त के साथ हूणो से संधि कर ली है; मगध में महादेवी और परम भट्टारक बनने का अभिनय हो रहा है! सम्राट् की उपाधि है 'प्रकाशादित्य'; परन्तु प्रकाश के स्थान पर अंधेरा है! आदित्य में गर्मी नहीं। सिहासन के सिंह सोने के है! समस्त भारत हूणों के चरणों में लोट रहा है, और भटार्क मूर्ख की बुद्धि के समान अपने कर्म्मों पर पश्चात्ताप कर रहा है। (सामने देखकर) वह विजया आ रही है! तो हट चलूँ।

(उठकर जाना चाहता है)

विजया—अरे मुद्गल ! जैसे पहचानता हो न हो। सच है, समय बदलने पर लोगों की आँखें भी बदल जाती हैं।

मुद्गल—तुम कौन हो जी ? मुझे वेजान-पहचान की छेड़छाड़ अच्छी नहीं लगती और तिसपर मैं हूँ ज्योतिषी। जहाँ देखो वहीं यह प्रश्न होता है ; मुझे उन बातों के सुनने में भी संकोच होता है—"मुझसे रूठे हुए हैं ? किसी दूसरे पर उनका स्नेह है ? वह सुन्दरी कब मिलेगी ? मिलेगी या नहीं ?"—इस देश के छबीले छैल और रसीली छोकरियों ने यही प्रश्न गुरुजी से पाठ में पढ़ा है। अभिचार के लिये, जुआ खेलने के लिये, प्रेम के लिये, और भी, अभिसार के लिये, मुहूर्त्त पूछे जाते हैं !

विजया—क्या मुद्गल ! मुझे पहचान लेने का भी तुम्हें अवकाश नहीं है ?

मुद्गल—अवकाश हो या नहीं, मुझे आवश्यकता नहीं।

विजया—क्या आवश्यकता न होने से मनुष्य, मनुष्य से बात न करें ? सच है, आवश्यकता ही संसार के व्यवहारों की दलाल है ! परन्तु मनुष्यता भी कोई वस्तु है मुद्गल !

मुद्गल—उसका नाम न लो। जिस हृदय में अखंड वेग है, तीव्र तृष्णा से जो पूर्ण है, जो कृतघ्नता और क्रूरताओं का भांडार है, जो अपने सुख—अपनी तृप्ति के लिये संसार में सब कुछ करने को प्रस्तुत है, उसे मनुष्यता से क्या सम्बन्ध ?

विजया—न सही, परन्तु इतना तो बता सकोगे, सम्राट् स्कंदगुप्त से कहाँ भेंट होगी ? क्योंकि यह पता चला है कि वे जीवित हैं।

मुद्गल—क्या तुम महाराज से भेंट करोगी, किस मुँह से? अवन्ती में एक दिन यह बात सब जानते थे कि विजया महादेवी होगी!

विजया—उसी एक दिन के बदले मुद्गल! आज मैं फिर कुछ कहना चाहती हूँ। वही एक दिन का अतीत आज तक का भविष्य छिपाये था।

मुद्गल—तुम्हारा साहस तो कम नहीं है।

विजया—मुद्गल! बता दोगे?

मुद्गल—तुम विश्वास के योग्य नहीं। अच्छा अब और तुम क्या कर लोगी। देवसेना के साथ जहाँ पर्णदत्त रहते हैं, आज कमलादेवी के कुटीर से सम्राट् वहीं अपनी जननी की समाधि पर जानेवाले हैं, उसी कनिष्क-स्तूप के पास। अच्छा, मैं जाता हूँ। देखो विजया! मैंने बता तो दिया, पर सावधान!

(जाता है)

विजया—उसने ठीक कहा। मुझे स्वयं अपने पर विश्वास नहीं। स्वार्थ मे ठोकर लगते ही मैं परमार्थ की ओर दौड़ पड़ी। परन्तु क्या यह सच्चा परिवर्त्तन है? क्या मैं अपने को भूलकर देशसेवा कर सकूँगी? क्या देवसेना ·····ओह! फिर मेरे सामने वही समस्या। आज तो स्कन्दगुप्त सम्राट् नहीं है; प्रतिहिंसे, सो जा। क्या कहा? नहीं, देवसेना ने एक बार मूल्य देकर खरीदा था, परन्तु विजया भी एक बार वही करेगी। देश-सेवा तो होगी ही, यदि मैं अपनी भी कामना पूरी कर सकती! मेरा रत्नगृह अभी बचा है, उसे सेना-संकलन करने के लिये

सम्राट् को दूँगी, और एक बार बनूँगी महादेवी। क्या नहीं होगा? अवश्य होगा। अदृष्ट ने इसीलिये उस रक्षित रत्नगृह को बचाया है। उससे एक साम्राज्य ले सकती हूँ। तो आज वही करूँगी, और इसमें दोनों होगा—स्वार्थ और परमार्थ।

(प्रस्थान)

(भटार्क का प्रवेश)

भटार्क—अपने कुकर्मों का फल चखने में कड़वा, परन्तु परिणाम में मधुर होता है। ऐसा वीर, ऐसा उपयुक्त और ऐसा परोपकारी सम्राट्। परन्तु गया—मेरी ही भूल से सब गया! आज भी वे शब्द सामने आ जाते हैं, जो उस बूढ़े अमात्य ने कहा था—"भटार्क, सावधान! जिस कालभुजंगी राष्ट्रनीति को लेकर तुम खेल रहे हो, प्राण देकर भी उसकी रक्षा करना।" हाय! न हम उसे वश में कर सके और न तो उससे अलग हो सके। मेरी उच्च आकांक्षा, वीरता का दम्भ, पाखंड की सीमा तक पहुँच गया। अनन्तदेवी—एक क्षुद्र नारी—उसके कुचक्र में, आशा के प्रलोभन में, मैंने सब विगाड़ दिया। सुना है कि कहीं यहीं स्कन्दगुप्त भी हैं; चलूँ उस महत् का दर्शन तो कर लूँ।

[कनिष्क-स्तूप के पास महादेवी की समाधि]

(अकेला पर्णदत्त, टहलते हुए)

पर्णदत्त—सूखी रोटियाँ बचाकर रखनी पड़ती हैं। जिन्हें कुत्तों को देते हुए संकोच होता था, उन्हीं कुत्सित अन्नों का सञ्चय ! अक्षय निधि के समान उनपर पहरा देता हूँ। मैं रोऊँगा नहीं; परंतु यह रक्षा क्या केवल जीवन का बोझ वहन करने के लिये है ? नहीं, पर्ण ! रोना मत। एक बूँद भी आँसू आँखो में न दिखाई पड़े। तुम जीते रहो, तुम्हारा उद्देश सफल होगा। भगवान यदि होंगे तो कहेंगे कि मेरी सृष्टि में एक सच्चा हृदय था। सन्तोष कर उछलते हुए हृदय ! संतोष कर, तू रोटियो के लिये नहीं जीता है; तू उसकी भूल दिखाता है, जिसने तुझे उत्पन्न किया है। परंतु जिस काम को कभी नहीं किया, उसे करते नही बनता, स्वांग भरते नहीं बनता; देश के वहुत-से दुर्दशा-ग्रस्त वीर-हृदयों की सेवा के लिये करना पड़ेगा। मैं क्षत्रिय हूँ, मेरा यह पाप ही आपद्धर्म्म होगा; साक्षी रहना भगवन् !

(एक नागरिक का प्रवेश)

पर्ण०—बाबा ! कुछ दे दो।

नागरिक—और वह तुम्हारी कहाँ गई वह..... (संकेत करता है)

पर्ण०—मेरी बेटी स्नान करने गई है। बाबा ! कुछ दे दो।

नागरिक—मुझे उसका गान बड़ा प्यारा लगता है, अगर वह गाती, तो तुम्हे कुछ अवश्य मिल जाता। अच्छा, फिर आऊँगा। (जाता है)

पर्ण०—(दाँत पीसकर)—नीच, दुरात्मा, विलास का नारकीय कीड़ा! बालों को सँवारकर, अच्छे कपड़े पहनकर, अब भी घमंड से तना हुआ निकलता है? कुलवधुओं का अपमान सामने देखते हुए भी अकड़कर चल रहा है; अब तक विलास और नीच वासना नहीं गई! जिस देश के युवक ऐसे हों, उसे अवश्य दूसरों के अधिकार में जाना चाहिये। देश पर यह विपत्ति, फिर भी यह निराली धज!

देवसेना—(प्रवेश करके) क्या है बाबा! क्यों चिढ़ रहे हो? जाने दो, जिसने नहीं दिया—उसने अपना; कुछ तुम्हारा तो नहीं ले गया।

पर्ण०—अपना! देवसेना! अन्न पर स्वत्व है भूखों का और धन पर स्वत्व है देशवासियों का। प्रकृति ने उन्हें हमारे लिये—हमें भूखों के लिये रख छोड़ा है। वह थाती है; उसे लौटाने में इतनी कुटिलता! विलास के लिये उनके पास पुष्कल धन है, और दरिद्रों के लिये नहीं? अन्याय का समर्थन करते हुए तुम्हें भूल न जाना चाहिये कि······

देवसेना—बाबा! क्षमा करो। आने दो, कोई तो देगा।

पर्ण०—हमारे ऊपर सैकड़ों अनाथ वीरों के बालकों का भार है। बेटी! वे युद्ध में मरना जानते हैं, परंतु भूख से तड़पते हुए उन्हें देखकर आँखों से रक्त गिर पड़ता है।

देवसेना—बाबा! महादेवी की समाधि स्वच्छ करती हुई आ रही हूँ। कई दिन से भीम नहीं आया, मातृगुप्त भी नहीं; सब कहाँ हैं?

पर्ण०—आवेंगे बेटी ! तुम बैठो, मैं अभी आता हूँ।

(प्रस्थान)

देवसेना—संगीत-सभा की अन्तिम लहरदार और आश्रय-हीन तान, धूपदान की एक क्षीण गंध-धूम-रेखा, कुचले हुए फूलों का म्लान सौरभ, और उत्सव के पीछे का अवसाद, इन सबों की प्रतिकृति मेरा क्षुद्र नारी-जीवन ! मेरे प्रिय गान ! अब क्यों गाऊँ और क्या सुनाऊँ ? इस बार-बार के गाये हुए गीतों में क्या आकर्षण है—क्या बल है जो खींचता है ? केवल सुनने की ही नहीं, प्रत्युत् जिसके साथ अनन्त काल तक कंठ मिला रखने की इच्छा जग जाती है।

(गाती है)

शून्य गगन में खोजता जैसे चन्द्र निराश
राका में रमणीय यह किसका मधुर प्रकाश
हृदय ! तू खोजता किसको छिपा है कौन-सा तुझमें
मचलता है बता क्या दूँ छिपा तुझसे न कुछ मुझमें
रस-निधि में जीवन रहा, मिटी न फिर भी प्यास
मुँह खोले मुक्तामयी सीपी स्वाती आस
हृदय ! तू है बना जलनिधि, लहरियाँ खेलतीं तुझमे
मिला अब कौन-सा नवरत्न जो पहले न था तुझमें

(प्रस्थान)

(वेश बदले हुए स्कन्दगुप्त का प्रवेश)

स्कंद०—जननी ! तुम्हारी पवित्र स्मृति को प्रणाम।

(समाधि के समीप घुटने टेककर फूल चढ़ाता है)

माँ! अन्तिम बार आशीर्वाद नहीं मिला, इसीसे यह कष्ट, यह अपमान। माँ! तुम्हारी गोद में पलकर भी तुम्हारी सेवा न कर सका—यह अपराध क्षमा करो।

(देवसेना का प्रवेश)

देवसेना—(पहचानती हुई) कौन? अरे! सम्राट् की जय हो।

स्कंद०—देवसेना!

देवसेना—हाँ राजाधिराज! धन्य भाग्य, आज दर्शन हुए।

स्कंद०—देवसेना! बड़ी-बड़ी कामनाएँ थीं।

देवसेना—सम्राट्!

स्कंद०—क्या तुमने यहाँ कोई कुटी बना ली है?

देवसेना—हाँ, यही गाकर भीख माँगती हूँ, और आर्य्य पर्णदत्त के साथ रहती हुई महादेवी की समाधि परिष्कृत करती हूँ।

स्कंद०—मालवेश-कुमारी देवसेना! तुम और यह कर्म्म! समय जो चाहे करा ले। कभी हमने भी तुम्हें अपने काम का बनाया था।

देवसेना! यह सब मेरा प्रायश्चित्त है। आज मैं बंधुवर्म्मा की आत्मा को क्या उत्तर दूँगा? जिसने निःस्वार्थ भाव से सब कुछ मेरे चरणों में अर्पित कर दिया था, उससे कैसे उऋण होऊँगा? मैं यह सब देखता हूँ और जीता हूँ।

देवसेना—मैं अपने लिये ही नहीं माँगती देव! आर्य्य पर्ण-दत्त ने साम्राज्य के बिखरे हुए सब रत्न एकत्र किये हैं, वे सब निर-

वलम्ब हैं । किसीके पास टूटी हुई तलवार ही बची है, तो किसीके जीर्ण वस्त्र-खंड । उन सबकी सेवा इसी आश्रम मे होती है ।

स्कंद०—वृद्ध पर्णदत्त, तात पर्णदत्त ! तुम्हारी यह दशा ? जिसके लोहे से आग बरसती थी, वह जंगल की लकड़ियाँ बटोरकर आग सुलगाता है ! देवसेना ! अब इसका कोई काम नहीं; चलो महादेवी की समाधि के सामने प्रतिश्रुत हों, हम तुम अब अलग न होंगे । साम्राज्य तो नहीं है, मैं बचा हूँ ; वह अपना ममत्व तुम्हें अर्पित करके उऋण होऊँगा, और एकांतवास करूँगा ।

देवसेना—सो न होगा सम्राट् ! मैं दासी हूँ । मालव ने जो देश के लिये उत्सर्ग किया है, उसका प्रतिदान लेकर मृत आत्मा का अपमान न करूँगी । सम्राट् ! देखो, यहीं पर सती जयमाला की भी छोटी-सी समाधि है, उसके गौरव की भी रक्षा होनी चाहिये ।

स्कंद०—देवसेना ! बंधु बंधुवर्म्मा की भी तो यही इच्छा थी ।

देवसेना—परंतु क्षमा हो सम्राट् ! उस समय आप विजया का स्वप्न देखते थे; अब प्रतिदान लेकर मैं उस महत्त्व को कलंकित न करूँगी । मै आजीवन दासी बनी रहूँगी ; परंतु आपके प्राप्य मे भाग न लूँगी ।

स्कंद०—देवसेना ! एकांत मे, किसी कानन के कोने में, तुम्हे देखता हुआ, जीवन व्यतीत करूँगा । साम्राज्य की इच्छा नहीं—एक बार कह दो ।

देवसेना—तव तो और भी नहीं। मालव का महत्त्व तो रहेगा ही, परन्तु उसका उद्देश्य भी सफल होना चाहिये। आपको अकर्म्मण्य बनाने के लिये देवसेना जीवित न रहेगी। सम्राट्, क्षमा हो। इस हृदय में..... आह! कहना ही पड़ा, स्कंदगुप्त को छोड़कर न तो कोई दूसरा आया और न वह जायगा। अभिमानी भक्त के समान निष्काम होकर मुझे उसीकी उपासना करने दीजिये; उसे कामना के भँवर में फँसाकर कलुषित न कीजिये। नाथ! मैं आपकी ही हूँ, मैंने अपने को दे दिया है, अब उसके बदले कुछ लिया नहीं चाहती।

(पैर पर गिरती है)

स्कंद०—(आँसू पोंछता हुआ) उठो देवसेना! तुम्हारी विजय हुई। आज से मैं प्रतिज्ञा करता हूँ कि, मै कुमार-जीवन ही व्यतीत करूँगा। मेरी जननी की समाधि इसमें साक्षी है।

देवसेना—हैं, हैं, यह क्या किया!

स्कंद०—कल्याण का श्रीगणेश। यदि साम्राज्य का उद्धार कर सका तो उसे पुरगुप्त के लिये निष्कंटक छोड़ जा सकूँगा।

देवसेना—(निःश्वास लेकर) देवव्रत! तुम्हारी जय हो। जाऊँ आर्य्य पर्णदत्त को लिवा लाऊँ। (प्रस्थान)

(विजया का प्रवेश)

विजया—इतना रक्तपात और इतनी ममता, इतना मोह—जैसे सरस्वती के शोणित जल मे इन्दीवर का विकास। इसी कारण अब मैं भी मरती हूँ। मेरे स्कंद! मेरे प्राणाधार!

स्कंद०—(घूमकर)—यह कौन, इन्द्रजाल मंत्र ? अरे विजया !

विजया—हाँ, मैं ही हूँ।

स्कंद०—तुम कैसे ?

विजया—तुम्हारे लिये मेरे अन्तस्तल की आशा जीवित है !

स्कंद०—नहीं विजया ! उस खेल को खेलने की इच्छा नहीं ; यदि दूसरी बात हो तो कहो। उन बातो को रहने दो।

विजया—नहीं, मुझे कहने दो। (सिसकती हुई) मैं अब भी.........

स्कंद०—चुप रहो विजया ! यह मेरी आराधना की—तपस्या की भूमि है, इसे प्रवञ्चना से कलुषित न करो। तुमसे यदि स्वर्ग भी मिले, तो मै उससे दूर ही रहना चाहता हूँ।

विजया—मेरे पास अभी दो रत्न-गृह छिपे हैं, जिनसे सेना एकत्र करके तुम सहज ही इन हूणो को परास्त कर सकते हो।

स्कंद०—परन्तु, साम्राज्य के लिये मै अपने को नहीं बेंच सकता। विजया ! चली जाओ ; इस निर्लज्ज प्रलोभन की आवश्यकता नही। यह प्रसङ्ग यही तक।

विजया—मैंने देशवासियों को सन्नद्ध करने का संकल्प किया है, और भटार्क का संसर्ग छोड़ दिया है। तुम्हारी सेवा के उपयुक्त बनने का उद्योग कर रही हूँ। मैं मालव और सौराष्ट्र को तुम्हारे लिये स्वतंत्र करा दूँगी ; अर्थ-लोभी हूण-दस्युओं से उसे छुड़ा लेना मेरा काम है। केवल तुम स्वीकार कर लो।

स्कंद०—विजया! तुमने मुझे इतना लोभी समझ लिया है? मैं सम्राट बनकर सिंहासन पर बैठने के लिये नहीं हूँ। शस्त्र-बल से शरीर देकर भी यदि हो सका तो जन्म-भूमि का उद्धार कर लूँगा। सुख के लोभ से, मनुष्य के भय से, मैं उत्कोच देकर क्रीत साम्राज्य नहीं चाहता।

विजया—क्या जीवन के प्रत्यक्ष सुखों से तुम्हें वितृष्णा हो गई है? आओ, हमारे साथ बचे हुए जीवन का आनंद लो।

स्कंद०—और असहाय दीनों को, राक्षसों के हाथ, उनके भाग्य पर छोड़ दूँ?

विजया—कोई दुःख भोगने के लिये है, कोई सुख। फिर सबका बोझ अपने सिर पर लादकर क्यों व्यस्त होते हो?

स्कंद०—परंतु इस संसार का कोई उद्देश है। इसी पृथ्वी को स्वर्ग होना है, इसीपर देवताओं का निवास होगा; विश्व-नियन्ता का ऐसा ही उद्देश मुझे विदित होता है। फिर उसकी इच्छा क्यों न पूर्ण करूँ? विजया! मैं कुछ नहीं हूँ, उसका अस्त्र हूँ—परमात्मा का अमोघ अस्त्र हूँ। मुझे उसके संकेत पर केवल अत्याचारियों के प्रति प्रेरित होना है। किसीसे मेरी शत्रुता नहीं, क्योंकि मेरी निज की कोई इच्छा नहीं। देशव्यापी हलचल के भीतर कोई शक्ति कार्य्य कर रही है, पवित्र प्राकृतिक नियम अपनी रक्षा करने के लिये स्वयं सन्नद्ध हैं। मैं उसी ब्रह्मचक्र का एक...

विजया—रहने दो यह थोथा ज्ञान। प्रियतम! यह भरा हुआ यौवन और प्रेमी हृदय विलास के उपकरणों के साथ प्रस्तुत है। उन्मुक्त आकाश के नील-नीरद-मंडल में दो विजलियों के

समान क्रीड़ा करते-करते हम लोग तिरोहित हो जायँ। और उस क्रीड़ा में तीव्र आलोक हो, जो हम लोगों के विलीन हो जाने पर भी जगत् की आँखों को थोड़े काल के लिये बन्द कर रक्खे। स्वर्ग की कल्पित अप्सराएँ और इस लोक के अनंत पुण्य के भागी जीव भी जिस सुख को देखकर आश्चर्य्य-चकित हों, वही मादक सुख, घोर आनन्द, विराट विनोद, हम लोगों का आलिङ्गन करके धन्य हो जाय !—

अगरु-धूम की श्याम लहरियाँ उलझी हों इन अलकों से
मादकता-लाली के डोरे इधर फँसे हों पलकों से
व्याकुल बिजली-सी तुम मचलो आर्द्र-हृदय-घनमाला से
आँसू बरुनी से उलझे हों, अधर प्रेम के प्याला से
इस उदास मन की अभिलाषा अँटकी रहे प्रलोभन से
व्याकुलता सौ-सौ बल खाकर उलझ रही हो जीवन से
छवि-प्रकाश-किरणें उलझी हों जीवन के भविष्य तम से
ये लायेंगी रङ्ग सुलालित होने दो कम्पन सम से
इस आकुल जीवन की घड़ियाँ इन निष्ठुर आघातों से
बजा करें अगणित यन्त्रों से सुख-दुख के अनुपातों से
उखड़ी साँसें उलझ रही हों धड़कन से कुछ परिमित हो
अनुनय उलझ रहा हो तीखे तिरस्कार से लांछित हो
यह दुर्बल दीनता रहे उलझी फिर चाहे ठुकराओ
निर्दयता के इन चरणों से, जिसमें तुम भी सुख पाओ

(स्कन्द के पैरों को पकड़ती है)

स्कंद०—(पैर छुड़ाकर) विजया ! पिशाची ! हट जा ; नहीं जानती, मैंने आजीवन कौमार-व्रत की प्रतिज्ञा की है।

विजया—तो क्या मै फिर हारी ?

(भटार्क का प्रवेश)

भटार्क—निर्लज्ज हारकर भी नहीं हारता, मरकर भी नहीं मरता।

विजया—कौन, भटार्क ?

भटार्क—हाँ, तेरा पति भटार्क। दुश्चरित्रे ! सुना था कि तुझे देश-सेवा करके पवित्र होने का अवसर मिला है, परन्तु हिंस्र पशु कभी एकादशी का व्रत करेगा—कभी पिशाची शांति-पाठ पढ़ेगी !

विजया—(सिर नीचा करके) अपराध हुआ।

भटार्क—फिर भी किसके साथ ? जिसके ऊपर अत्याचार करके मै भी लज्जित हूँ, जिससे क्षमा-याचना करने मै आ रहा था। नीच स्त्री !

विजया—घोर अपमान, तो बस…

(छुरी निकालकर आत्म-हत्या करती है)

स्कंद०—भटार्क ! इसके शव का संस्कार करो।

भटार्क—देव ! मेरी भी लीला समाप्त है।

(छुरी निकालकर अपने को मारना चाहता है, स्कंद हाथ पकड़ लेता है)

स्कंद०—तुम वीर हो, इस समय देश को वीरों की आवश्य-

कता है। तुम्हारा यह प्रायश्चित्त नहीं। रणभूमि में प्राण देकर जननी जन्मभूमि का उपकार करो। भटार्क! यदि कोई साथी न मिला तो साम्राज्य के लिये नहीं—जन्मभूमि के उद्धार के लिये मैं अकेला युद्ध करूँगा और तुम्हारी प्रतिज्ञा पूरी होगी, पुरगुप्त को सिंहासन देकर मैं वानप्रस्थ-आश्रम ग्रहण करूँगा। आत्म-हत्या के लिये जो अस्त्र तुमने ग्रहण किया है, उसे शत्रु के लिये सुरक्षित रक्खो।

भटार्क—(स्कन्द के सामने घुटने टेककर) "श्री स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य की जय हो!" जो आज्ञा होगी, वही करूँगा।

स्कन्द०—पहिले इस शव का प्रबंध होना चाहिये। (प्रस्थान)

भटार्क—(स्वगत) इस घृणित शव का अग्नि-संस्कार करना ठीक नहीं, लाओ इसे यहीं गाड़ दूँ!

(भूमि खोदते समय एक भयानक शब्द के साथ रत्नगृह का प्रकट होना और भटार्क का प्रसन्न होकर पुकारना; स्कन्दगुप्त का आकर रत्नगृह देखना)

स्कन्द०—भटार्क! यह तुम्हारा है।

भटार्क—हाँ सम्राट्! यह हमारा है, इसीलिये देश का है। आज से मैं सेना-संकलन में लगूँगा।

स्कन्द०—वह दूर पर बड़ी भीड़ हो रही है स्तूप के पास।

भटार्क—नागरिकों का उत्सव है। (रत्नगृह बन्द करके) चलिये, देखूँ।

(स्तूप का एक भाग—नागरिकों का आना। उन्हीं में वेश बदले हुए मातृगुप्त, भीमवर्म्मा, चक्रपालित, शर्वनाग, कमला, रामा इत्यादि। दूसरी ओर से वृद्ध पर्णदत्त का हाथ पकड़े हुए देवसेना का प्रवेश)

१—नागरिक—अरे वह छोकरी आ गई, इससे कुछ सुना जाय।

२—नागरिक—हाँ रे छोकरी ! कुछ गा तो।

पर्ण०—भीख दो बाबा ! देश के बच्चे भूखे है, नंगे है, असहाय है ; कुछ दो बाबा !

१—अरे गाने भी दे बूढ़े !

पर्ण०—हाय रे अभागे देश !

(देवसेना गाती है)

देश की दुर्दशा निहारोगे
डूबते को कभी उबारोगे
हारते ही रहे, न है कुछ अब
दाँव पर आपको न हारोगे
कुछ करोगे कि बस सदा रोकर
दीन हो दैव को पुकारोगे
सो रहे तुम, न भाग्य सोता है
आप बिगडी तुम्हीं सँवारोगे
दीन जीवन बिता रहे अब तक
क्या हुए जा रहे, विचारोगे

पर्ण०—नहीं बेटी, ये निर्लज्ज कभी विचार नहीं करेंगे।

चक्रपालित और भीमवर्म्मा—आर्य्य पर्णदत्त की जय !

पर्ण०—मुझे जय नहीं चाहिये—भीख चाहिये । जो दे सकता हो अपने प्राण, जो जन्मभूमि के लिये उत्सर्ग कर सकता हो जीवन, वैसे वीर चाहिये ; कोई देगा भीख में ?

स्कंद०—(भीड़ में से निकलकर) मै प्रस्तुत हूँ तात !

भटार्क—श्री स्कंदगुप्त विक्रमादित्य की जय हो !

(नागरिकों में से बहुत-से युवक निकल पड़ते हैं)

सब—हम हैं, हम आपकी सेवा के लिये प्रस्तुत हैं ।

स्कंद०—आर्य्य पर्णदत्त !

पर्ण०—आओ वत्स ! सम्राट् ! (आलिङ्गन करता है)

[उत्साह से जनता पूजा के फूल बरसाती है । चक्रपालित, भीमवर्म्मा, मातृगुप्त, शर्वनाग, कमला, रामा, सबका प्रकट होना—जयनाद !]

[महाबोधि-विहार]

(अनन्तदेवी, पुरगुप्त, प्रख्यातकीर्त्ति, हूण-सेनापति)

अनन्त०—इसका उत्तर महाश्रमण देंगे।

हूण-सेनापति—मुझे उत्तर चाहिये, चाहे कोई दे।

प्रख्यात०—सेनापति ! मुझसे सुनो। समस्त उत्तरापथ का बौद्ध संघ जो तुम्हारे उत्कोच के प्रलोभन में भूल गया था, वह अब न होगा।

हूण-सेना०—तभी बौद्ध जनता से जो सहायता हूण-सैनिकों को मिलती थो, बन्द हो गई ; और उलटा तिरस्कार !

प्रख्यात०—वह भ्रम था। बौद्धों को विश्वास था कि हूण लोग सद्धर्म्म के उत्थान करने में सहायक होंगे, परन्तु ऐसे हिंसक लोगों को सद्धर्म्म कोई आश्रय नही देगा। (पुरगुप्त की ओर देख कर) यद्यपि संघ ऐसे अकर्म्मण्य युवक को आर्य्यसाम्राज्य के सिंहासन पर नहीं देखा चाहता, तो भी बौद्ध धर्म्माचरण करेंगे, राजनीति मे भाग न लेंगे।

अनन्त०—भिक्षु ! क्या कह रहे हो ? समझकर कहना।

हूण-सेना०—गोपाद्रि से समाचार मिला है, स्कंदगुप्त फिर जो उठा है, और सिंधु के इस पार के हूण उसके घेरे में हैं ; संभवतः शीघ्र ही अन्तिम युद्ध होगा। तब तक के लिये संघ को प्रतिज्ञा भंग न करनी चाहिये।

पुरगुप्त—क्या युद्ध ! तुम लोगो को कोई दूसरी बात नहीं ...

अनन्त०—चुप रहो।

पुरगुप्त—तब फिर एक पात्र। (सेवक देता है)

प्रख्यात०—अनार्य्य ! विहार में मद्यपान ! निकलो यहाँ से।

अनंत०—भिक्षु ! समझकर बोलो; नहीं तो मुंडित मस्तक भूमि पर लोटने लगेगा !

हूण-सेना०—इसीकी सब प्रवञ्चना है; इसका तो मैं अवश्य ही वध करूँगा।

प्रख्यात०—क्षणिक और अनात्मभव में किसका कौन वध करेगा मूर्ख !

हूण-सेना०—पाखंड ! मरने के लिये प्रस्तुत हो !

प्रख्यात०—सिंहल के युवराज की प्रेरणा से हम लोग इस सत्पथ पर अग्रसर हुए हैं; वहाँ से नहीं लौट सकते।

(हूण-सेनापति मारना चाहता है)

कुमार धातुसेन—(सहसा प्रवेश करके) "सम्राट् स्कन्दगुप्त की जय !"

(सैनिक सबको वन्दी कर लेते हैं)

धातु०—कुचक्रियो ! अपने फल भोगने के लिये प्रस्तुत हो जाओ ! भारत के भीतर की बची हुई समस्त हूण-सेना के रुधिर से यह उन्हीं की लगाई हुई ज्वाला शांत होगी।

अनंत०—धातुसेन ! यह क्या, तुम हो ?

धातु०—हाँ महादेवी ! एक दिन मैंने समझाया था, तब मेरी अवहेला की गई; यह उसीका परिणाम है। (सैनिकों से) सबको शीघ्र साम्राज्य-स्कन्धावार में ले चलो।

[सबका प्रस्थान]

[रणक्षेत्र]

(सम्राट् स्कंदगुप्त, भटार्क, चक्रपालित, पर्णदत्त, मातृगुप्त, भीमवर्म्मा इत्यादि सेना के साथ परिभ्रमण करते हैं ।)

मातृगुप्त—वीरो !—(गान)—

हिमालय के आँगन में उसे प्रथम किरणों का दे उपहार
उषा ने हँस अभिनंदन किया और पहनाया हीरक-हार
जगे हम, लगे जगाने, विश्व लोक में फैला फिर आलोक
व्योम-तम-पुञ्ज हुआ तब नष्ट, अखिल संसृति हो उठी अशोक
विमल वाणी ने वीणा ली कमल-कोमल-कर में सप्रीत
सप्तस्वर सप्तसिंधु में उठे, छिड़ा तब मधुर साम-संगीत
बचाकर बीज-रूप से सृष्टि, नाव पर झेल प्रलय का शीत
अरुण-केतन लेकर निज हाथ वरुण पथ में हम बढ़े अभीत
सुना है दधीचि का वह त्याग हमारी जातीयता विकास
पुरन्दर ने पवि से है लिखा अस्थि-युग का मेरे इतिहास
सिंधु-सा विस्तृत और अथाह एक निर्वासित का उत्साह
दे रही अभी दिखाई भग्न मग्न रत्नाकर में वह राह
धर्म्म का ले लेकर जो नाम हुआ करती बलि, कर दी बंद
हमीं ने दिया शांति-संदेश, सुखी होते देकर आनन्द
विजय केवल लोहे की नहीं, धर्म्म की रही धरा पर धूम
भिक्षु होकर रहते सम्राट दया दिखलाते घर-घर घूम
यवन को दिया दया का दान, चीन को मिली धर्म्म की दृष्टि
मिला था स्वर्ण-भूमि को रत्न, शील की सिंहल को भी सृष्टि
किसीका हमने छीना नहीं, प्रकृति का रहा पालना यहीं
हमारी जन्मभूमि थी यही, कहीं से हम आये थे नहीं

जातियों का उत्थान-पतन आँधियाँ, झड़ी, प्रचंड समीर
खड़े देखा, झेला हँसते, प्रलय में पले हुए हम वीर
चरित थे पूत, भुजा में शक्ति, नम्रता रही सदा सम्पन्न
हृदय के गौरव में था गर्व, किसीको देख न सके विपन्न
हमारे सञ्चय में था दान, अतिथि थे सदा हमारे देव
वचन में सत्य, हृदय में तेज, प्रतिज्ञा में रहती थी टेव
वही है रक्त, वही है देश, वही साहस है, वैसा ज्ञान
वही है शांति, वही है शक्ति, वही हम दिव्य आर्य्य-संतान
जियें तो सदा उसी के लिये, यही अभिमान रहे, यह हर्ष
निछावर कर दें हम सर्वस्व, हमारा प्यारा भारतवर्ष

सब—(समवेत स्वर से) जय ! राजाधिराज स्कन्दगुप्त की जय !!

(हूण-सेना के साथ खिङ्गिल का आगमन)

खिङ्गिल—बच गया था भाग्य से, फिर सिंह के मुख में आना चाहता है। भीषण परशु के प्रहारों से तुम्हें अपनी भूल स्मरण हो जायगी।

स्कन्द०—यह बात करने का स्थल नहीं।

(घोर युद्ध, खिङ्गिल घायल होकर बंदी होता है। सम्राट् को बचाने में वृद्ध पर्णदत्त की मृत्यु; गरुड़ध्वज की छाया में वह लिटाया जाता है।)

स्कन्द०—धन्य वीर आर्य्य पर्णदत्त !

सब—आर्य्य पर्णदत्त की जय ! आर्य्य-साम्राज्य की जय !!

(बन्दी-वेश में पुरगुप्त और अनन्तदेवी के साथ धातुसेन का प्रवेश)

स्कंद०—मेरी सौतेली माता ! इस विजय से आप सुखी होंगी।

अनंत०—क्यों लज्जित करते हो स्कंद! तुम भी तो मेरे पुत्र हो?

स्कंद०—आह! यही यदि होता मेरी विमाता! तो देश की इतनी दुर्दशा न होती।

अनंत०—मुझे क्षमा करो सम्राट्!

स्कंद०—माता का हृदय सदैव क्षम्य है। तुम जिस प्रलोभन से इस दुष्कर्म में प्रवृत्त हुई हो, वही तो कैकेयी ने किया था। तुम्हारा इसमे दोष नहीं। जब तुमने आज मुझे पुत्र कहा, तो मैं भी तुम्हे माता ही समझूँगा। परंतु कुमारगुप्त के इस अग्नितेज को तुमने अपने कुत्सित कर्मों की राख से ढँक दिया। पुरगुप्त!

पुरगुप्त—देव! अपराध हुआ। (पैर पकड़ता है)

स्कंद०—भटार्क! मैंने तुम्हारी प्रतिज्ञा पूरी की। लो, आज इस रणभूमि में मैं पुरगुप्त को युवराज बनाता हूँ। देखना, मेरे बाद जन्मभूमि की दुर्दशा न हो। (रक्त का टीका पुरगुप्त को लगाता है)

भटार्क—देवव्रत! अभी आपकी छत्रछाया में हम लोगों को बहुत-सी विजय प्राप्त करनी है; यह आप क्या कहते हैं?

स्कन्द०—क्षत-जर्जर शरीर अब बहुत दिन नहीं चलेगा, इसीसे मैंने भावी साम्राज्य-नीति की घोषणा कर दी है। इस हूण को छोड़ दो, और कह दो कि सिंधु के इस पार के पवित्र देश में कभी आने का साहस न करे।

खिङ्गिल—आर्य्यसम्राट्! आपकी आज्ञा शिरोधार्य्य है।

[जाता है]

[उद्यान का एक भाग]

देवसेना—हृदय की कोमल कल्पना ! सो जा । जीवन में जिसकी संभावना नहीं, जिसे द्वार पर आये हुए लौटा दिया था, उसके लिये पुकार मचाना क्या तेरे लिये कोई अच्छी बात है ? आज जीवन के भावी सुख, आशा और आकांक्षा—सबसे मैं बिदा लेती हूँ !

आह ! वेदना मिली बिदाई
मैने भ्रम-वश जीवन-सञ्चित
मधुकरियों की भीख लुटाई

छलछल थे संध्या के श्रमकण
आँसू-से गिरते थे प्रतिक्षण
मेरी यात्रा पर लेती थी—
नीरवता अनन्त अँगड़ाई

श्रमित स्वप्न की मधुमाया में
गहन-विपिन की तरु-छाया में
पथिक उनींदी श्रुति में किसने—
यह बिहाग की तान उठाई

लगी सतृष्ण दीठ थी सबकी
रही बचाये फिरती कबकी
मेरी आशा आह ! बावली
तूने खो दी सकल कमाई

चढ़कर मेरे जीवन-रथ पर
प्रलय चल रहा अपने पथ पर
मैंने निज दुर्बल पद-बल पर
उससे हारी-होड़ लगाई

लौटा लो यह अपनी थाती
मेरी करुणा हा-हा खाती
विश्व ! न सँभलेगी यह मुझसे
इसने मन की लाज गँवाई

(स्कंदगुप्त का प्रवेश)

स्कंद०—देवसेना !

देव०—जय हो देव ! श्रीचरणों में मेरी भी कुछ प्रार्थना है।

स्कंद०—मालवेश-कुमारी ! क्या आज्ञा है ? आज वंधुवर्मा इस आनन्द को देखने के लिये नहीं हैं ! जननी जन्मभूमि के उद्धार करने की जिस वीर को दृढ़ प्रतिज्ञा थी, जिसका ऋण कभी प्रतिशोध नहीं किया जा सकता, उसी वीर वंधुवर्म्मा की भगिनी मालवेश-कुमारी देवसेना की क्या आज्ञा है ?

देवसेना—मैं मृत भाई के स्थान पर यथाशक्ति सेवा करती रही ; अब मुझे छुट्टी मिले !

स्कंद०—देवी ! यह न कहो। जीवन के शेष दिन, कर्म्म के अवसाद में वचे हुए हम दुखी लोग, एक दूसरे का मुँह देखकर काट लेंगे। हमने अन्तर की प्रेरणा से शस्त्र द्वारा जो निष्ठुरता की थी, वह इसी पृथ्वी को स्वर्ग बनाने के लिये। परन्तु इस नंदन की वसन्त-श्री, इस अमरावती की शची, इस स्वर्ग की लक्ष्मी,

तुम चली जाओ—ऐसा मैं किस मुँह से कहूँ ? (कुछ ठहरकर सोचते हुए) और किस वज्र-कठोर हृदय से तुम्हें रोकूँ ?

देवसेना ! देवसेना !! तुम जाओ। हतभाग्य स्कंदगुप्त, अकेला स्कंद, ओह !!

देवसेना—कष्ट हृदय की कसौटी है, तपस्या अग्नि है। सम्राट्! यदि इतना भी न कर सके तो क्या ! सब क्षणिक सुखों का अंत है। जिसमें सुखों का अंत न हो, इसलिये सुख करना ही न चाहिये। मेरे इस जीवन के देवता ! और उस जीवन के प्राप्य ! क्षमा !

(घुटने टेकती है ; स्कन्द उसके सिर पर हाथ रखता है।)

[यवनिका]

स्वर-लिपि

स्वर-लिपि के संकेत-चिन्हों का ब्योरा

१—जिन स्वरों के नीचे बिन्दु हो, वे मंद्र सप्तक के; जिनमें कोई बिन्दु न हो, वे मध्य सप्तक के; तथा जिनके ऊपर बिन्दु हो, वे तार सप्तक के हैं। जैसे—स़, स, सं।

२—जिन स्वरों के नीचे लकीर हो, वे कोमल हैं। जैसे—रे̱, ग̱, ध̱, नि̱। जिनमें कोई चिन्ह न हो, वे शुद्ध हैं। जैसे—रे, ग, ध, नि। तीव्र मध्यम के ऊपर खड़ी पाई रहती है—मं।

३—आलंकारिक स्वर (गमक) प्रधान स्वर के ऊपर दिया है; यथा—$\overset{\text{ध}}{\text{प}}\ \text{स}\ \overset{\text{म}}{\text{प}}$

४—जिस स्वर के आगे बेड़ी पाई हो '—' उसे उतनी मात्रा तक दीर्घ करना जितनी पाइयाँ हों। जैसे, स–, रे– –, ग– – –।

५—जिस अक्षर के आगे जितने अवग्रह 'ऽ' हों, उसे उतनी मात्रा तक दीर्घ करना। जैसे—रा ऽ म, सखी ऽऽ, आ ऽऽऽ ज।

६—'‿' इस चिन्ह में जितने स्वर या बोल रहें, वे एक मात्रा-काल में गाये या बजाये जायँगे। जैसे—सरे, गम।

७—जिस स्वर के ऊपर से किसी दूसरे स्वर तक चन्द्राकार लकीर जाय, वहाँ से वहाँ तक मींड समझना चाहिये। जैसे—

स – –म, रे – –प, इत्यादि।

८—सम का चिन्ह X, ताल के लिये अंक और खाली का द्योतक ० है। इनका विभाजन खड़ी लम्बी रेखाओं से दिखाया गया है।

९—'ꕥ' यह विश्रान्ति का चिन्ह है। ऐसे जितने चिन्ह हों, उतने मात्रा-काल तक विश्रान्ति जानना चाहिये।

(पृष्ठ १५)

बिहाग—तीन ताल

स्थायी

			स न
×	२	०	३
प — मं ग	म ग ग स	ग — स ग	म प — प
छे ऽ ड़ ना	ऽ उ स ग्र	ती ऽ त स्ट	ति से ऽ खि
नि — सं नि	ध प मं प	ग म ग स	नि़ स — स
चे ऽ हु ए	ऽ बी ऽ न	ता ऽ र को	ऽ किल , क
प प मं ग	म ग — स	ग ग स ग	म प — प
रु ण रा ऽ	गि नी ऽ त	ड़ प उ ठे	ऽ गी ऽ सु
नि — सं नि	ध प मं प	ग म ग स	नि़ स —
ना ऽ न ऐ	ऽ सी ऽ पु	का ऽ र को	ऽ किल ,

अन्तरा

			प
			हृ
X	२	०	३
नि — सं —	सं सं — सं	नि — प प	— नि — प
द य धू ऽ	ल नें ऽ मि	ला ऽ दि या	ऽ है ऽ, व
प — म ग	म प मं ग	म ग स नि़	नि़ स — स
से ऽ च र	ण चि ऽ न्ह	सा ऽ कि या	ऽ है ऽ, खि
प — मं ग	म ग ग स	ग — स ग	म प — प
ले ऽ फू ऽ	ल स व गि	रा ऽ दि या	ऽ है ऽ, न
नि नि सं नि	ध प मं प	ग म ग स	नि़ स —
भ व व सं	ऽ तीं ऽ व	हा ऽ र को	ऽ कि ल,

(पृष्ठ १८)

इमन—तीन ताल

स्थायी

×	२	०	३
	धृ निृ रें ग	स — सं —	निृ रे ग रे
	सं ऽ स्मृ ति	के ऽ वे ऽ	सु ऽ द र
ग ग गं ग	रेग मंप मं प	रे — ग रे	निृ रे गं रे
त म न्न ता	योंऽ ऽऽ ही ऽ	भू ऽ ल न	हीं ऽ ऽ जा ऽ
स— — —	धृ निृ रें ग	स — स स	निृ रे ग रे
नाऽ ऽ ऽ,	व ह व ऽ	च्छ ऽ द्व ल	ता ऽ थी ऽ
ग ग ग —	रेग मंप मं प	रे रे ग रे	निृ रे ग रे
अ प नी ऽ	कऽ हऽ क र	म न म त	ब ह ला ऽ
स— — —			
नाऽ ऽ ऽ,			

अंतरा

×	२	०	३
	ग प ध प	सं — सं —	नि रें गं रें
	मा S द क	ता S सी S	त र ल हँ
नि रें स —	नि ध प म॑	प रे ग रे	ऩि रे ग रे
सी S के S	प्या S ले S	में S उ ठ	ती S ल ह
स — — —	ध़ ऩि रे ग	स — स —	ऩि रे ग रे
री S S S,	मे S रे S	पि S श्वा S	सों S से S
ग ग ग ग	रेग म॑प म॑ प	रे रे ग रे	ऩि रे ग रे
व ठ क र	अS धS र चू	S म ने S	को S ठ ह
स — — —			
री S S S,			

(पृष्ठ ३९)

झिंझोटी—तीन ताल

स्थायी

×	२	०	३
ग	रे स नि़ ध़	प़ ध़ स स	रे रे ग म
व	ता ऽ रो ऽ	गे ऽ अ व	क ब भू ऽ
ग — ग गम	रेग सरे नि़ध़ प़	ध़ — स स	रे रे ग म
भा ऽ र, उऽ	ताऽ ऽऽ रोऽ ऽ	गे ऽ अ ब	क ब भू ऽ
ग — ग ग	रे स नि़ ध़	ग — म रे	ग स रे ग
भा ऽ र, उ	ता ऽ रो ऽ,	वा ऽ र वा	ऽ र क्यों ऽ
स स रे ग	स नि़ ध़ प़	ध़ — स —	रे — ग म
क ह र ऽ	क्वा ऽ था ऽ	लूँ ऽ गा ऽ	मैं ऽ अ व
ग — ग			
ता ऽ र,			

अन्तरा

×	२	०	३
ग	रे स नि़ ध़,	स स ग म	प — प —
व	ता ऽ रो ऽ,	ट म ङ़ र	हा ऽ है ऽ
ग म प ध	प म ग ग	स स ग म	प म ग रे
इ स भू ऽ	त ल प र	दुः ख का ऽ	पा ऽ रा ऽ
स नि़ ध़ प़	— — — —	ग — म रे	ग स रे ग
वा ऽ ऽ र,	ऽ ऽ ऽ ऽ	वा ऽ ड़ व	ले ऽ लि हा
स स रे ग	स नि़ ध़ प़	ध़ ध़ स —	रे — ग म
ऽ न जि ऽ	हा ऽ का ऽ	क र ता ऽ	है ऽ वि ऽ
ग — ग			
स्ता ऽ र,			

(पृष्ठ ४५)

लावनी धुन बनजारा--कहरवा

स्थायी

			२
		स	स — स —
		भ	रा ऽ नै ऽ
×	२	×	२
रे ग ग —	ग म ग स	रे — रे प	प — प प
नों ऽ मे ऽ	म न में ऽ	रू ऽ प, कि	सी ऽ छ लि
प ध प म	ग रे ग ग	स — स	
या ऽ का ऽ	अ म ल अ	नू ऽ प,	

अन्तरा

×	२	×	२
म म म म	म — — म	प — — प	प — ध —
ज ल थ ल	मा ऽ ऽ रुत	व्यो ऽ ऽ म	में ऽ जो ऽ
ध — ध —	ध — प म	प — — —	— — — प
आ ऽ या ऽ	है ऽ स ब	ओ ऽ ऽ ऽ	ऽ ऽ ऽ र
म — म म	— म म म	मप ध — प	म — ग —
खो ऽ ज खो	ऽ ज क र	खोऽ ऽ ऽ ग	ई ऽ मैं ऽ
म — म म	म — म प	ग — ग म	ग रे स —
पा ऽ ग ल	प्रे ऽ म वि	भो ऽ र, भाँ	ऽ ग से ऽ
रे ग — ग	ग — ग स	रे — रे प	प — प —
भ रा ऽ हु	आ ऽ य ह	कू ऽ प, भ	रा ऽ नै ऽ
प ध प म	ग रे ग ग	स — स	
नों ऽ में ऽ	म न में ऽ	रू ऽ प,	

(पृष्ठ ५४)

माँड—दादरा

स्थायी

					२
					ध ध —
					ध ने ऽ
×	२	×	२	×	
प म ग	स रे ग	स — —	— — —	म म म	— म म
प्रे ऽ म	त रु त	ले ऽ ऽ,	ऽ ऽ ऽ	बै ठ छाँ	ऽ ह लो
प प प —	ध ध नी —	प प प	ध ध रें	सं — —	
भ व आ ऽ	त प से ऽ	ता पि त	औ र ज	ले ऽ ऽ,	

अंतरा

					२ म म – छा या ऽ
× म म – है वि ऽ	२ प – प श्वा ऽ स	× प ध नि – की ऽ ऽ ऽ	२ प प – श्र द्धा ऽ	× धि न रें सरि ता ऽ	सं – – कू ऽ ऽ
– – सं ऽ ऽ ल,	ध ध ध सिँ ची आँ	ध ध – सु ओं ऽ	प ध प से ऽ मृ	म – प दु ऽ लऽ	ग ग ग है प रा
– स रे ग ऽ ग म य	स – – धू ऽ ऽ	– – स ऽ ऽ ल,	प ध – य हाँ ऽ	प म ग कौ ऽ न	स रे ग जो ऽ छु
स – – लो ऽ ऽ,					

(पृष्ठ ६७)

मालकोस—तीन ताल

(यह गान नेपथ्य से गाया जायगा)

स्थायी

	२	०	३
सनि	गस मग धम निग	य ग म स	नि स ध नि
पा ऽ	ऽऽ लऽ नाऽ ऽऽ,	ब नें ऽ प्र	ल य की ऽ
×			
स म म			
ल ह रें,			

अन्तरा

	२	०	३
सनि	गस मग धम निध	गम धम ध नि	सं – सं –
पाऽ	ऽऽ लऽ नाऽ ऽऽ,	शीऽ ऽऽ त ल	हो ऽ ज्वा ऽ
×			
नि – नि –	धनि संनि धम	ग म स –	नि स ध नि
ला ऽ की ऽ	आऽ ऽऽ धीऽ	क रु णा ऽ	के ऽ घ न
स म म			
छ ह रें,			

(पृष्ठ ८८)

भीमपलासी—तीन ताल

स्थायी

		रे	३
			नि स ग म
		ब	म ड़ क र
X	२	०	
प प — प	गम पनि धप मप	ग रे स नि	धनि धनि प —
च ली ऽ भि	गोऽ ऽऽ हेऽ ऽऽ	आ ऽ ज, तु	म्हाऽ ऽऽ रा ऽ
म प ग म	गम पनि प म	ग रे स रे	नि स ग म
नि ऽ श्च ल	अंऽ ऽऽ च ल	छो ऽ र, न	य न ज ल
प — प —	गम पनि धप मप	ग रे स नि	ध नि प —
धा ऽ रा ऽ	रेऽ ऽऽ प्रऽ तिऽ	कू ऽ ल, दे	ऽ ख ले ऽ
गम पनि ध प	म प ग म	ग रे स	
तऽ ऽऽ फिर	क र इ स	ओ ऽ र,	

अन्तरा

×	२	०	३
		प	म प ग म
		हृ	द य की ऽ
प नि प म	प प नि नि	सं – सं पनि	संगं रें सं –
श्रं ऽ त र	त म सु स	क्या ऽ न कऽ	ऽऽ ल्प ना ऽ
नि नि धनि धनि	प — म प	ग रे स रे	नि स ग म
म य तेऽ ऽऽ	रा ऽ य ह	वि ऽ श्व. ला	ऽ लि मा ऽ
प — प प	गम पनि धप म	प — प प	ग म म –
मे ऽ ल य	होऽ ऽऽ लऽ व	ली ऽ न नि	र ख ते ऽ
नि नि धनि धप	म प ग म	ग रे स	
दि न श्वाँऽ ऽऽ	खों ऽ कीं ऽ	को ऽ र,	

(पृष्ठ ९४)

धुन बरवा—तीन ताल

स्थायी

	२	०	३
प प	प — प प	प ध म प	ग म ग म
स ब	जी ऽ व न	बी ऽ ता ऽ	जा ऽ ता ऽ
×			
प — — —	म — म ग̲	रे ग̲ म प	ग̲ — रे स
है ऽ ऽ ऽ	धू ऽ प छाँ	ऽ ह के ऽ	खे ऽ ल स
स स ग म	प — प प	प ध म प	ग — ग म
दे श, स ब	जी ऽ व न	बी ऽ ता ऽ	जा ऽ ता ऽ
प — — —	ग̲ — ग̲ रे	— ग̲ म प	ग̲ — रे स
है ऽ ऽ ऽ	धू ऽ प छाँ	ऽ ह के ऽ	खे ऽ ल स
स स			
दे श			

अन्तरा

	२	०	३
प प	म प — नि	— नि नि —	नि गं नि नि
सब,	स स य भा	ऽ ग ता ऽ	त ति च ण
×			
सं — — —	नि नि नि नि	— ध प ध	नि सं — नि
में ऽ ऽ ऽ.	न व अ ती	ऽ त के ऽ	तु पा ऽ र
ध नि प —	प प — प	प — प प	प ध म प
क्ष ण में ऽ,	ह में ऽ ल	गा ऽ क र	भ वि ऽ ष्य
ग म प —	नि — नि नि	ध — प ध	म प ग म
र ण में ऽ,	आ ऽ प क	हाँ ऽ छि प	जा ऽ ता ऽ
			म
प — — —	म — म ग	रे ग म प	ग — रे स
है ऽ ऽ ऽ,	धू ऽ प छाँ	ऽ ह के ऽ	खे ऽ ल स
स स			
द श,			

(पृष्ठ १०४)

देस मलार—तीन ताल

स्थायी

X	२	०	३
			मग सरे म प
			माँऽ ऽऽ झी ऽ
नि — सं सं	निसं रें नि॒ध पध	म ग रे —	मग सरे म प
सा ऽ ह स	हैऽ ऽ खेऽ ऽऽ	लो ऽ गे ऽ,	माँऽ ऽऽ झी ऽ,
रे — रे रे	रे ग रे म	ग रे ग स	रे नि़ स —
ज ऽ जँ र	त री ऽ भ	री ऽ प थि	कों ऽ से ऽ
रे रे म —	म — प ध	नि॒ ध प —	मप निसं रे —
झ ड़ में ऽ	क्या ऽ खो ऽ	लो ऽ गे ऽ	माँऽ ऽऽ झी ऽ
नि॒ ध प ध	मप धनि॒ ध प	म ग रे —	
सा ऽ ह स	हैऽ ऽऽ खे ऽ	लो ऽ गे ऽ	

अन्तरा

			३
			मग सरे म प
			मॉऽ ऽऽ की ऽ,
X	२	०	
रे रे रे रे	— ग रेग म	ग रे ग स	रे नि़ स —
अ ल स नी	ऽ ल कीऽ ऽ	छा ऽ ऽ ऽ	या ऽ में ऽ
रे रे म —	म — प ध	नि॒ नि॒ नि॒ —	ध प ध प
ज ल जा ऽ	लों ऽ की ऽ	छ ल मा ऽ	या ऽ में ऽ
म प नि सं	रें रे निसं रेसं	नि॒ ध प —	म रे म प
अ प ना ऽ	ब ल तोऽ ऽऽ	लो ऽ गे ऽ	माँ ऽ की ऽ
नि — सं सं	निसं रे नि॒ध पध	म ग रे —	
सा ऽ ह स	हैऽ ऽ खेऽ ऽऽ	लो ऽ गे ऽ,	

(पृष्ठ १२०)

देस—पश्तो ताल

स्थायी

×	२	३	×	२	३
स रे रे	म म	प —	नि नि नि	सं —	नि॒ ध
भा ऽ व	नि धि	में ऽ	ल ह रि	याँ ऽ	उ ठ
प ध म	ग रे	ग स	रे — रे	म म	प —
तीं ऽ त	भी ऽ	ऽ ऽ,	भू ऽ ल	क र	भी ऽ
नि नि नि	सं सं	नि॒ ध	प ध म	ग रे	ग स
स्म ऽ ऽ	र ण	हो ऽ	ता ऽ क	भी ऽ	ऽ ऽ,
रे — रे	म म	प —			
भा ऽ व	नि धि	में ऽ	(इत्यादि)		

अन्तरा

×			२		३		×			२		३	
म	म	म	प	प	नि	—	सं	—	सं	निसं	रें	सं	रें
म	धु	र	मु	र	ली	ऽ	फूँ	ऽ	क	दीऽ	ऽ	तु	म
नि	—	ध	प	—	—	—	रे	—	रे	म	म	प	—
ने	ऽ	भ	ला	ऽ,	ऽ	ऽ	नी	ऽ	द	मु	झ	को	ऽ
नि	—	नि	सं	—	नि	ध	प	ध	म	ग	रे	ग	स
आ	ऽ	च	ली	ऽ	थी	ऽ	ग्र	स	ग्र	भी	ऽ	ऽ	ऽ,

(पृष्ठ १३८)

भीमपलासी—कहरवा (हक़ानी)

(नेपथ्य से गाया जायगा)

स्थायी

			२
		रे	नि̣ स ग̱ म
		ब	जा ऽ दो ऽ
λ	२	×	
प — — प	प ध̱ प ग̱	म — — ग̱	रे ग̱ स —
बे ऽ ऽ गु	म न मो ऽ	ह न ऽ ब	जा ऽ दो ऽ
— — — रे	नि̣ स ग̱ म	प — — प	प ध̱ प ग̱
ऽ ऽ ऽ, ह	मा ऽ रे ऽ	सु ऽ ऽ स	जी ऽ व न
म — म॑ ग̱	रे ग̱ स —	— — —	
को ऽ ऽ ज	गा ऽ दो ऽ	ऽ ऽ ऽ,	

अन्तरा

			२
		प	ग म प नि
		वि	म ल स्वा ऽ
X	२	X	
सं — — सं	सं — सं सं	निं सं — नि	प ध प —
तं ऽ ऽ व्य	का ऽ व स	मं ऽ ऽ त्र	फूँ ऽ को ऽ
— — — रे	नि स ग म	प — — प	प ध प ग
ऽ ऽ ऽ, ह	में ऽ स व	भी ऽ ऽ ति	वं ऽ ध न
म — — ग	रे ग स —	— — —	
से ऽ ऽ छु	ड़ा ऽ दो ऽ	ऽ ऽ ऽ,	

(पृष्ठ १४९)

सोरठ–कहरवा

अस्थायी

×	२	×	२
स — रे रे	म म प —	नि — नि सं	— — — —
शू ऽ न्यं ग	ग न मे ऽ	खो ऽ ज ता	ऽ ऽ ऽ ऽ
निसं रें सं —	नि ध प ध	म ग रे रे	— — — —
जंऽ ऽ से ऽ	च ऽ न्द्र नि	रा ऽ ऽ श	ऽ ऽ ऽ ऽ
रे — रे —	रे — ग म	ग — रे ग	स — — —
रा ऽ का ऽ	मे ऽ र म	णी ऽ य य	ह ऽ ऽ ऽ
रे रे म —	म म प ध	नि ध प प	— — — —
कि स का ऽ	म धु र प्र	का ऽ ऽ श	ऽ ऽ ऽ ऽ

अन्तरा—पश्तो ताल में

	२	२	X	२	३
म	प —	नि —	नि — नि	नि —	सं नि
हृ	द य	तू S	खो S ज	ता S	कि स
X					
सं — रे	सं रें	सं नि̱	ध प ध	मप धनि̱	ध म
को S छि	पा S	है S	कौ S न	साS SS	तु म्ह
ग रे म	ग रे	स —	रे — म	प —	नि —
में S, म	च ल	ता S	है S व	ता S	क्या S
सं — रें	सं रें	सं नि̱	ध प ध	म ध	म ग
दूँ S छि	पा S	तु म्ह	से S न	कु छ	मु म्ह
रे —					
में S,					

(पृष्ठ १५५)

सिन्ध भैरवी—कहरवा धीमा

स्थायी

×	२	×	२
स प प प	— ध॒ नि॒ सं	ध॒ नि॒ न॒ प	म प ग॒ रे
अ गु रु धू	ऽ म की ऽ	श्या ऽ म ल	ह रि याँ ऽ
स रे नि़॒ —	स रे ग॒ म	रे ग॒ स रे	स — — —
उ लु झीं ऽ	हौं ऽ इ न	अ ल कों ऽ	से ऽ ऽ ऽ,
स प प प	प ध॒ नि॒ सं	ध॒ नि॒ ध॒ प	स प ग॒ रे
मा ऽ द क	ता ऽ ला ऽ	ली ऽ के ऽ	डो ऽ रे ऽ
स रे नि़॒ नि़॒	स रे ग॒ म	रे ग॒ स रे	स — — —
इ ध र फँ	से ऽ हों ऽ	प ल कों ऽ	से ऽ ऽ ऽ,

अन्तरा

X	२	X	२
ध म म म	ध ध नि —	सं — सं सं	सं सं सं —
व्या ऽ कु ल	वि ज ली ऽ	सा ऽ तु म	म च लो ऽ
नि — नि नि	नि — सं सं	नि सं नि ध	प — — —
आ ऽ रु ह	उ य व न	मा ऽ ला ऽ	से ऽ ऽ ऽ

(इसके आगे का भाग ऊपर के अनुसार)

(पृष्ठ १५८)

धुन इमन—कहरवा हक़ानी

स्थायी

		प दे	२ — प प — ऽ श की ऽ
× मं प मं ग हु ऽ ऽ ऽ	२ रे ग — रे दं शा ऽ नि	× स — — — हा ऽ ऽ ऽ	मं रे ग प — रो ऽ गे ऽ
— — — प ऽ ऽ ऽ, हु	— प प — ऽ व ते ऽ	मं प मं ग को ऽ ऽ ऽ	रे ग — रे क भी ऽ उ
स — — — घा ऽ ऽ ऽ	मं रे ग प — रो ऽ गे ऽ	— — — ऽ ऽ ऽ,	

अन्तरा

			२
		ग	— ग प ध
		हा	ऽ र ते ऽ
×	२	×	
सं — — —	सं नि — ध	प — — —	ध नि प —
ही ऽ ऽ ऽ	र हे ऽ न	है ऽ ऽ ऽ	कु छ भ ऽ
— — प प	— प प प	मं प मं ग	रे ग — रे
ऽ ऽ ब, दाँ	ऽ व प र	आ ऽ ऽ ऽ	प का ऽ न
स — — —	रे ग प — (मं)	— — —	
हा ऽ ऽ ऽ	रो ऽ ने ऽ	ऽ ऽ ऽ,	

(पृष्ठ १६२)

भूपाली मार्चिंग ट्यून—कहरवा (द्रुतलय)

स्थायी

		स	२
		हि	ध़ — स —
			मा ऽ ल य
×	२	×	
ध़ — स —	रे रे स —	ग ग — रे	ग प ध ध
के ऽ आं ऽ	ग न में ऽ	उ से ऽ प्र	थ म कि र
ग — प —	ध — प ध	सं — सं	
णों ऽ का ऽ	दे ऽ उ प	हा ऽ र,	

अन्तरा

				२
			सं	सं — रें —
			ट	पा ऽ ने ऽ
×	२	×		
गं गं रें सं	ध सं ध प	ग ग — रे		— ग प ध
हँ स अ भि	नं ऽ द न	किया ऽ औ		ऽ र प हि
सं — ध —	प — ग रे	स — स		
रा ऽ या ऽ	हीं ऽ र क	हा ऽ र,		

(पृष्ठ १६५)

मिश्र कालिंगड़ा–तीन ताल

स्थायी

×	२	०	३
	ध — प ध	म प ग म	ग रे स रे
	आ ऽ ह वे	ऽ द ना ऽ	मि ली ऽ बि
ग — म —	ग — म —	ग रे स स	नि़स रे ग म ग
दा ऽ ई ऽ,	मै ऽ ने ऽ	अ म व श	जीऽ ऽऽ व न
रे — स स	नि़ स ग म	प ध नि सं	ध सं नि ध
सं ऽ चि त	म धु क रि	यों ऽ की ऽ	भी ऽ ख लु
प म ग स			
टा ऽ ई ऽ,			

अन्तरा

X	२	०	३
	ग म प प	ध_ — ध_ —	सं — सं —
	छ ल छ ल	थे ऽ सं ऽ	ध्या ऽ के ऽ
सं रे_ नि सं	सं — रे —	ग — म म	रें_ मं गं रें_
श्र म क ण,	आँ ऽ सू ऽ	से ऽ गि र	ते ऽ थे ऽ
सं रे_ सं सं	ध_ — प —	म — ग —	म म ग म
प्र ति क्ष ण,	मे ऽ री ऽ	या ऽ त्रा ऽ	प र ले ऽ
ग रे_ स —	नि़ स ग म	प ध_ नि सं	ध_ सं नि ध_
ती ऽ थी ऽ,	नी ऽ र व	ता ऽ अ नं	ऽ त अँ ग
प म ग म			
ड़ा ऽ ई ऽ,			

परिशिष्ट

मगध का गुप्त-राजवंश

(१) श्रीगुप्त—(ई० २७५-३००)

|

(२) घटोत्कच गुप्त—(ई० ३००-३२०)

|

(३) चंद्रगुप्त—(ई० ३२०-३३५)

|

(४) समुद्रगुप्त—(ई० ३३५-३८५)

|

(५) चंद्रगुप्त विक्रमादित्य (ई० ३८५-४१३)

|

(६) कुमारगुप्त महेंद्रादित्य (ई० ४१३-४५५)

|

(१) कोई इसका नाम केवल 'गुप्त' लिखते हैं, 'श्री' सम्मान-सूचक है।

(२) इस नाम के साथ 'गुप्त' शब्द नहीं मिलता।

(३) यही पहला स्वतंत्र गुप्तवंशी राजा हुआ। वैशाली के लिच्छिवियों के यहाँ इसका ब्याह हुआ।

(४) गुप्तवंश का परम प्रतापी, भारत-विजेता सम्राट्। राजसूय और अश्वमेध यज्ञ किया।

(५) पाटलीपुत्र का विक्रमादित्य, जिसे लोग चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य कहते है।

(६) मालव-विजेता, आख्यायिकाओं के विक्रमादित्य का पिता महेंद्रादित्य।

(७) स्कंदगुप्त विक्रमादित्य (ई० ४५५-४६७)　　(८) पुरगुप्त प्रकाशादित्य (ई० ४६७-४६९)

(९) नरसिंहगुप्त बालादित्य (ई० ४६९-४७३)

(१०) (द्वितीय) कुमारगुप्त क्रमादित्य ? (ई० ४७३-४७७)

(७) उज्जयिनी का द्वितीय विक्रमादित्य। महान वीर। इसके चाँदी के सिक्कों पर 'परम भागवत श्री विक्रमादित्य स्कंदगुप्तः' अंकित है।

(८) इसके सोने के सिक्कों पर 'श्री विक्रमः' भी मिलता है। परंतु प्रकाशादित्य नाम वाले सिक्के भी इसी के हैं, जिन्हें उज्जयिनी में स्कंदगुप्त के शासन-काल में मगध में इसने स्वतंत्र रूप से ढलवाये, फिर स्कंदगुप्त के मरने पर उसकी उपाधि 'श्री विक्रम' भी ग्रहण कर ली हो।

(९) यह प्रथम बालादित्य है, जिसे राजतरंगिणीकार ने भ्रम से विक्रमादित्य का भाई लिखा है। और वह यशोधर्म्म का भी समकालीन नहीं था।

(१०) कई विद्वान कुमारगुप्त को स्कंदगुप्त का उत्तराधिकारी मानते हैं। परन्तु यह ठीक नहीं। भिटारी के सील से यह स्पष्ट हो जाता है कि कुमारगुप्त द्वितीय पुरगुप्त का पुत्र था। सारनाथ वाले शिलालेख का कुमार-गुप्त और भिटारी के सील का कुमार, दोनों एक ही व्यक्ति हैं, जिसका उत्तरा-धिकारी बुधगुप्त था—जिसके राज्यकाल में मालव पर हूणों का अधिकार

(११) बुधगुप्त परादित्य ? (ई० ४७७-४९४)

|

(१२) तथागतगुप्त परमादित्य ? (ई० ४९४-५१०)

|

(१३) भानुगुप्त वालादित्य (ई० ५१०-५३४)

|

(१४) वज्रगुप्त प्रकटादित्य (ई० ५३४-५४० ?)

हुआ । मंदसोर के शिलालेख में जिस कुमारगुप्त का उल्लेख है, उस काल (४९३ वि०) में वन्धुवर्म्मा का राज्य मालव पर था, उक्त ४३६ ई० में कुमारगुप्त प्रथम का राज्य था । और उसी शिलालेख मे जो ५२९ वि० का उल्लेख है, वह उस मंदिर के जीर्णोद्धार का है—'संस्कारितमिदभूयः श्रेण्या भानुमतो गृहं'—से यह स्पष्ट है ।

(११) इसके समय मे मगध-साम्राज्य के बड़े-बड़े प्रदेश अलग हुए। इसका राज्य केवल मगध, अङ्ग और काशी तक ही रह गया था ।

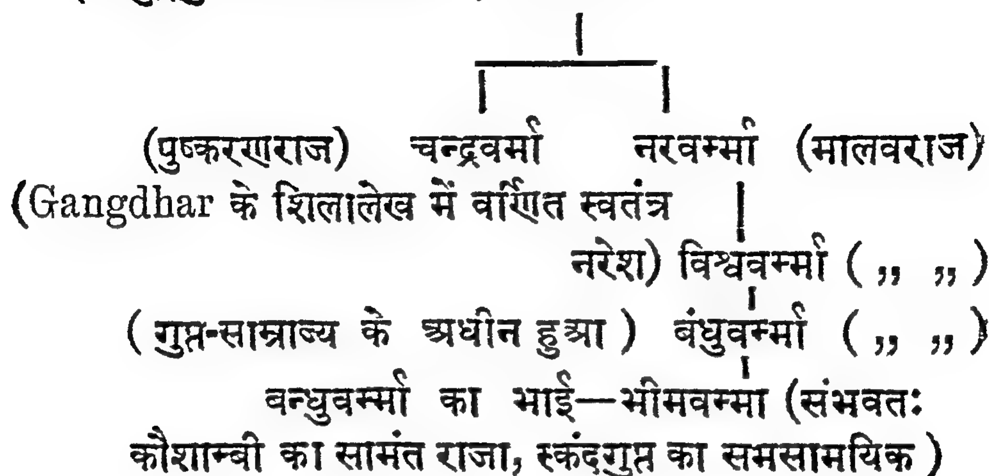
(१२) जोन एलन के मतानुसार यहाँ घटोत्कच का नाम होना चाहिये । परन्तु हेन्त्सांग ने लिखा है कि यशोधर्म्मं के साथ मिहरकुल को हरानेवाले वालादित्य के पिता का नाम तथागतगुप्त था । इससे हम भानुगुप्त के पिता का नाम तथागतगुप्त ही मानने को वाध्य होते हैं ।

(१३) जव हूणों से मालव का उद्धार यशोधर्म्मदेव ने किया उसी समय मगध को इसी वालादित्य ने वचाया । इसीकी ओर से एरिकिण में गोपराज ने युद्ध किया । सारनाथ में इसीका लेख मिला है—'तद्वंश सम्भ-वोन्यो वालादित्यो नृपः प्रीत्य प्रकटादित्ये ।' No 79, Plate XYIIIC.

(१४) प्रकटादित्य वज्रगुप्त की उपाधि है । इसी वज्रगुप्त के समय मे मालव के शीलादित्य ने मगध छीन लिया, तव से गुप्तवंश का प्राधान्य लुप्त हुआ ।

मालव-राजवंश

(समुद्रगुप्त का समकालीन) सिहवर्म्मा





विक्रमादित्य

जिसके नाम से विक्रमी संवत् का प्रचार है, भारत के आबाल-वृद्ध-परिचित उस प्रसिद्ध विक्रमादित्य का ऐतिहासिक अस्तित्व कुछ विद्वान लोग स्वीकार नहीं करते। इसके कई कारण हैं। उसका कोई शिलालेख नहीं मिलता। विक्रमी संवत् का उल्लेख प्राचीन ग्रंथो में नहीं है। स्वयं मालव में अति प्राचीन काल से एक मालव-संवत् का प्रचार था, जैसे—'मालवानांगणास्थित्या याते शतचतुष्टये'—इत्यादि। इसलिये कुछ विद्वानो का मत है कि गुप्तवंशी प्रतापी द्वितीय चंद्रगुप्त विक्रमादित्य ही असली विक्रमादित्य था, उसीने सौराष्ट्र के शकों को पराजित किया और प्रचलित मालव-संवत् के साथ अपनी 'विक्रम'-उपाधि जोड़कर विक्रमी संवत् का प्रचार किया।

परन्तु यह मत निस्सार है; क्योंकि चद्रगुप्त द्वितीय का नाम तो चंद्रगुप्त था, पर उपाधि विक्रमादित्य थी; उसने सौराष्ट्र के शको को पराजित किया। इससे यह तात्पर्य निकलता है कि शकारि होना विक्रमादित्य होने के लिये आवश्यक था। चंद्रगुप्त द्वितोय के शकारि होने का हम आगे चलकर विवेचन करेंगे। पर चंद्रगुप्त उज्जयिनी-नाथ न होकर पाटलीपुत्र के थे। उनके शिलालेखों में गुप्त-संवत् व्यवहृत है; तब वह दो संवतो के अकेले प्रचारक नहीं हो सकते। विक्रमादित्य उनकी उपाधि थी, नाम नहीं था। इन्हीं के लिए 'कथासरित्सागर' में लिखा है—"विक्रमादित्य इत्यासीद्राजापाटलिपुत्रके"। सिकन्दरसानी और आलमगीरसानी के उदाहरण पर मानना होगा कि जिसकी ऐसी

उपाधि होती है उसके पहले उस नाम का कोई व्यक्ति भी होता है। चंद्रगुप्त का राज्यकाल ३८५-४१३ ई० तक माना जाता है। तब यह भी मानना पड़ेगा कि ३८० के पहले कोई विक्रमादित्य हो गया है, जिसका अनुकरण करने पर उक्त गुप्तवंशी सम्राट् चंद्रगुप्त ने विक्रमादित्य की उपाधि से अपने को विभूषित किया। तख़्तेवाही के शिलालेख का, जो गोंडोफोरस का है, काल १०३ है। तत्कालीन ईसाई कथाओ के आधार पर जो समय उसका निर्धारित होता है उससे वह विक्रमी संवत् हो ठहरता है। तब यह भी स्थिर हो जाता है कि उस प्राचीन काल में शक-संवत् के अतिरिक्त एक संवत् का प्रचार था और वह विक्रमी था। मालव लोग उसके व्यवहार में 'मालव' शब्द का प्रयोग करते थे।

चन्द्रगुप्त का शक-विजय

कहा जाता है, गुप्तवंशी सम्राट् चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने मालव और सौराष्ट्र के पश्चिमी क्षत्रपों को पराजित किया, जो शक थे; इस लिये यही चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य था। सौराष्ट्र में रुद्रसिंह तृतीय के बाद किसीके सिक्के नहीं मिलते। इसलिये यह माना जाता है कि इसी चन्द्रगुप्त ने रुद्रसिंह को पराजित करके शकों को निर्मूल किया। पर, बात कुछ दूसरी है। चन्द्रगुप्त के पिता समुद्रगुप्त ने ही भारत की विजय-यात्रा की थी। हरिषेण की प्रशस्ति से ज्ञात होता है कि आर्यावर्त्त के विजित राजाओं में एक नाम रुद्रदेव भी है। संभवतः यही रुद्रदेव स्वामी रुद्रसेन था, जो सौराष्ट्र का शक क्षत्रप था। तब यह विजय समुद्रगुप्त की थी, फिर चन्द्रगुप्त ने किन शकों को निर्मूल किया? चन्द्रगुप्त का शिलालेख बेतवा और

यमुना के पश्चिमी तट पर नहीं मिला। समुद्रगुप्त के शिलालेख से प्रकट होता है कि उसी ने विजय-यात्रा में राजाओं को भारतीय पद्धति के अनुसार पराजित किया। तात्पर्य, कुछ लोगो से उपहार लिया, कुछ लोगों को उनके सिंहासनों पर बिठला दिया, कुछ लोगों से नियमित 'कर' लिया, इत्यादि। चन्द्रगुप्त के पहले ही यह सब हो चुका था। वस्तुतः ये सब शासन में स्वतन्त्र थे। तब कैसे मान लिया जाय कि सौराष्ट्र और मालव में शकों को चन्द्रगुप्त ने निर्मूल किया, जिसका उल्लेख स्वयं चन्द्रगुप्त के किसी भी शिलालेख में नहीं मिलता। गुप्तवंशियों की राष्ट्रनीति सफल हुई, वे भारत के प्रधान सम्राट् माने जाने लगे। पर स्वयं चन्द्रगुप्त का समकालीन नरवर्मा (Gangdhar के शिलालेख में) और वह भी मालव का स्वतन्त्र नरेश माना जाता है। फिर मालव-चक्रवर्ती उज्जयिनीनाथ विक्रमादित्य और सम्राट् चन्द्रगुप्त, जो मगध और कुसुमपुर के थे, कैसे एक माने जा सकते हैं? चन्द्रगुप्त का समय ४१३ ई० तक है। इधर मन्दसोर वाले ४२४ ई० के शिलालेख में विश्ववर्मा और उसके पिता नरवर्मा स्वतन्त्र मालवेश हैं। यदि मालव गुप्तों के अधीन होता तो अवश्य किसी गुप्त-राजाधिराज का उसमें उल्लेख होता, जैसा कि पिछले शिलालेख में (जो ४३७ ई० का है) कुमारगुप्त का उल्लेख है—"वनान्तवान्तस्फुटपुष्पहासिनी, कुमारगुप्ते पृथिवी प्रशासति।" इससे यह सिद्ध हो जाता है कि चन्द्रगुप्त का सम्पूर्ण अधिकार मालव पर नहीं था, वह उज्जयिनी-नाथ नहीं थे। उनकी उपाधि विक्रमादित्य थी, तब उनके पहले एक विक्रमादित्य ३८५ से पूर्व हुए थे।

हमारे प्राचीन लेखों में भी इस प्रथम विक्रमादित्य का अनु-

संधान मिलता है। 'गाथासप्तशती' एक प्राचीन गाथाओं का संग्रह 'हाल' भूपति के नाम से उपलब्ध है। पैठन में इसकी राजधानी थी। इसका समय ईसवी-सन् की पहली शताब्दी है। महामहोपाध्याय पं० दुर्गाप्रसाद ने अभिनन्द के रामचरित से—

"हालेनोत्तम पूजयाकवि वृपः श्रीपालितो लालितः
ख्याति कामपि कालिदास कवयो नीता शकारातिना"

उद्धृत करके माना है कि श्रीपालित ने अपने राजा 'हाल' के लिये यह 'गाथासप्तशती' बनाई। इसमें एक गाथा पाँचवें शतक की है—

"संवाहण सुहरस तोसिएण देन्तेह तुहकरे लक्खम्
चलणेण विक्कमादित्त चरित्रं अणु सिक्खिअंतिस्सा" ॥६४॥

ईसवी पूर्व पहली शताब्दी में एक विक्रमादित्य हुए, इसके मानने का यह एक प्रमाण है। जैन-ग्रंथ कालकाचार्य-कथा में उज्जयिनी-नाथ विक्रम का मध्यभारत के शकों को परास्त करना लिखा है। 'प्रबंधकोष' में लिखा है कि महावीर स्वामी के मोक्ष पाने पर, ४७० वर्ष बाद, विक्रमादित्य हुए। भारत की परंपरागत कथाओं में प्रसिद्ध है कि विक्रमादित्य गंधर्वसेन का पुत्र था। टाड ने राजस्थान के ३६ राजकुलों का वर्णन करते हुए यह लिखा है कि तुअर-वंश पांडव-वंश की एक शाखा है, जिसमें संवत्-प्रचारक विक्रम और अनंगपाल का जन्म हुआ था। प्राचीन ऐतिहासिक ग्रंथ 'राजावली' में दिल्ली के राजाओं का वर्णन करते हुए लिखा है कि दिल्ली के राजा राजपाल का राज्य कमायूँ के

पहाड़ी राजा शुकवंत ने छीन लिया। उसे विक्रमादित्य ने मार कर दिल्ली का उद्धार किया। इधर प्रसिद्ध विद्वान स्मिथ ने लिखा है कि ईसा के पूर्व दूसरी शताब्दी में शकों का उत्थान हुआ जो भारत में उसीके लगभग घुसे।

Branches of the barbarian stream which penitrated the Indian passes, deposited settlements at Taxila in the Punjab and Mathura on the Jamuna

Yet another section of the horde at a later date perhaps about middle of the first century after Christ pushed on southwards and occupied the peninsula of Sourashtra or Kathiawar, founding a 'Saka' dynasty which lasted until it was destroyed by Chandragupta Vikramaditya about A. D. 390.

The Satraps of Mathura were closely connected with those of Taxila and belong to the same period about 50 B. C or later.

पिछली शक-शाखा के संबंध में, जो सौराष्ट्र गई, यह कहा जाता है कि चंद्रगुप्त विक्रमादित्य ने उसे निर्मूल किया; पर वास्तव में ३८५ ईसवी तक समुद्रगुप्त जीवित थे और उन्हीं के समय में ३८२ ई० तक के शक सिक्के मिलते हैं, बाद के सिक्के बिना संवत् के हैं। इससे प्रतीत होता है कि समुद्रगुप्त के सामने क्षत्रपों का प्रताप निस्तेज हुआ, फिर बिना संवत् के सिक्के वहाँ प्रचलित हुए। तात्पर्य्य, उक्त समुद्रगुप्त के समय ३८५ तक ही सौराष्ट्र की शक-शाखा का ह्रास हुआ। चंद्रगुप्त का राज्यारोहण-काल

३८० ई० मानते हैं। परन्तु उसका सबसे पहला शिलालेख—उदयगिरि का गुप्त-संवत् ८२ (ई० ४०१) का मिलता है। सौराष्ट्र के सिक्के जो चंद्रगुप्त के माने जाते हैं वे गुप्त-संवत् ९० (ई० ४०९) के हैं—इसके पहले के नहीं। शक-क्षत्रपों के अंतिम सिक्कों का समय (३११) ई० ३८९ है। अच्छा, इन सिक्कों के बाद ३८९ से लेकर ४०९ ई०–(२० वर्ष)–तक किन सिक्कों का प्रचार रहा, क्योंकि चंद्रगुप्त के सिक्कों के देखने से उसका सौराष्ट्र-विजय ४०९ ई० से पहले का नहीं हो सकता, (जब के उसके सिक्के हैं)। फिर इधर उदयगिरि वाला लेख भी ई० ४०१ के पहले का नहीं है। तब यह सहज मे अनुमान किया जा सकता है कि चंद्रगुप्त का राज्यारोहण-काल ४०० ई० के समीप होगा। परन्तु ३८९ ई० तक के शक-क्षत्रपों के सिक्कों के मिलने के कारण चंद्रगुप्त को ही शकारि विक्रमादित्य प्रमाणित करने के लिये चंद्रगुप्त का राज्यारोहण-काल ३८५ या ३८० अनुमान किया जाता है, जिससें सौराष्ट्र-विजय का श्रेय उसी को मिले। वास्तव में समुद्रगुप्त के ही समय में शक-विजय हुआ। हरिषेण की विजय-प्रशस्ति में समुद्रगुप्त के द्वारा पराजित राजाओ की नामावली मे रुद्रदेव का भी उल्लेख है और यह रुद्रदेव सौराष्ट्र के शक-क्षत्रपो मे रहा होगा। चंद्रगुप्त ने भी पिता के अनुकरण पर विजय-यात्रा की थी, जैसा कि उनके उदयगिरि वाले शिलालेख से प्रकट है। परन्तु उनके शासन-काल में मालव स्वतंत्र था। समुद्रगुप्त के बाद मालव और सौराष्ट्र स्वतंत्र राष्ट्र गिने जाते थे। Gangdhar और मंदसोर के दोनो शिलालेखों को देखने से सूचित होता है कि नरवर्म्मा और

विश्ववर्म्मा मालव के स्वतंत्र नरेश थे। कुमारगुप्त के समय में बंधुवर्म्मा ने संभवतः ४२४—४३७ ई० के बीच में गुप्त-साम्राज्य के अधीन होना स्वीकार किया।

चन्द्रगुप्त के शक-विजय का उल्लेख बाणभट्ट ने भी किया है—"अरिपुरे परकलत्रकामुकं कामिनीवेशश्चंद्रगुप्तः शकनरपतिं अशातयत्।" यह शक-विजय किस प्रांत में हुआ, इसका ठीक उल्लेख नहीं; पर कुछ लोग अनुमान करते हैं कि कुशानों के दक्षिणी शक-क्षत्रप से ४०० ई० के समीप प्रतिष्ठान का उद्धार चन्द्रगुप्त ने किया। जब आंध्र-राजाओं से लड़-झगड़ कर वे शक-क्षत्रप स्वतंत्र हो गये थे और चन्द्रगुप्त ने दक्षिण के उन स्वतंत्र शकों को पराजित करने के लिये जिस उपाय का अवलंबन किया था, उसका उल्लेख 'कथा-सरित्सागर' की चौथी तरंग से भी प्रकट है।

मथुरा के शक-शासकों का नाश, जो शकों की पहली शाखा के थे, किसने किया—इस संबंध में इतिहास चुप है। 'राजुवुल षोडाश' और 'खरओष्ट' नाम के तीन शक-नरेशों के, ई० के पूर्व पहली शताब्दी मे, मथुरा पर शासन करने का उल्लेख स्पष्ट मिलता है। षोड़ाश ने आर्य्य-शासक रामदत्त से दिल्ली और मथुरा छीनकर शक-राज्य प्रतिष्ठित किया था। 'राजावली' में इसका उल्लेख है कि विक्रमादित्य ने पहाड़ी राजा शुकवंत से दिल्ली का उद्धार किया। शुकवंत संभवतः विदेशी षोडाश का ही विकृत नाम है, क्योंकि ईसा की पहली शताब्दी के बाद उस प्रांत मे उन शकों का शासन निर्मूल हो गया। इन लोगों

को पराजित करनेवाला वही विक्रमादित्य हो सकता है, जो ईसवी पूर्व पहली शताब्दी का हो।

जैसलमेर के इतिहास मे भट्टियों का वर्णन यहाँ बड़े काम का है। उन्होंने लिखा है कि विक्रमीय संवत् ७२ में गजनी-पति गज का पुत्र शालिवाहन मध्य एशिया की क्रांतियों से विताड़ित होकर भारतवर्ष चला आया, और उसने पंजाब में शालिवाहनपुर (शालपुर या शाकल) नाम की राजधानी बसाई। स्मिथ ने जिस दूसरी शक-शाखा का उल्लेख किया है, उसके समय से भट्टियों के इस शालिवाहन का समय ठीक-ठीक मिल जाता है। शकों के दूसरे अभियान का नेता यही शालिवाहन था, जिसके संबंध में 'भविष्यपुराण' में लिखा है—

एतस्मिन्नन्तरे तत्र शालिवाहन भूपतिः
विक्रमादित्यपौत्रस्य पितृराज्यं गृहीतवान् ॥

कुछ लोग 'पौत्रश्च' अशुद्ध पाठ के द्वारा भ्रांत अर्थ निकालते हैं जो असंवद्ध है। विक्रमादित्य के पौत्र का राज्य अपहरण करनेवाला शालिवाहन विदेशी था। 'प्रबन्ध-चिंतामणि' मे भी शालिवाहन को नागवंशीय लिखा है। गजनी से आया हुआ शालिवाहन शक था। संभवतः उसीने शक-राज्य की स्थापना की और शक-संवत् का प्रचार किया। इसके पिता के ऊपर जिस खुरासान के फरीदशाह के आक्रमण की वात कही जाती है, वह पार्थिया-नरेश 'मिथ्राडोटस' का पुत्र 'फराटस द्वितीय' रहा होगा।

उस काल मे युवेची, पार्थियन और शको में भयानक संघर्ष

चल रहा था। गजनी के शकों को भी इसी कारण अपना देश छोड़कर रावी और चनाब के बीच में 'शाकल' बसाना पड़ा। मिथ्रोडोटस द्वितीय आदि के शासन-काल मे भारतवर्ष का उत्तर-पश्चिमीय भू-भाग बहुत दिनो तक इन्हीं शको के अधिकार में रहा। कभी पार्थियन, कभी शक और कभी युवेची-जाति की प्रधानता हो जाती थी। उसी समय में मालवों को पराजित करके शकों ने पंजाब में अपने राज्य की स्थापना की। स्मरण रखना होगा कि मालव से यहाँ उस राष्ट्र का संबंध है जो 'पाणिनि' के समय में मालव-क्षुद्रक-गण कहे जाते थे, और सिकंदर के समय मे वे 'malloi And azodrakai' के नाम से अभिहित थे। इस प्राचीन मालव की सीमा पंजाब में थी। विक्रमादित्य और शको का प्रथम कहरूर-युद्ध मुलतान से ५० मील दक्षिण-पूर्व में हुआ, और फिर शालिवाहन के नेतृत्व में शकों के आक्रमण से मालवों को दक्षिण की ओर हटना पड़ा। संभवतः वर्त्तमान मालव देश उसी काल में मिलाया गया, और जहाँ पर इन मालवों ने शको से पराजित होकर अपनी नई राजधानी बनाई, वह मंदसोर और उज्जयिनी थी।

शालिवाहन की इस विजय के बाद इसीके वंश के लोग राजस्थान से होते हुए सौराष्ट्र तक फैल गये, और वे पश्चिमीय क्षत्रप के नाम से प्रसिद्ध हुए। चष्टन और नहपान आदि दक्षिण तक इसकी विजय-वैजयंती ले गये। नहपान को कुंतलेश्वर सातकर्णि ने पराजित किया। 'कथा-सरित्सागर' से पता चलता है कि भरुकच्छ देश से भी शको की सत्ता सातकर्णि ने उठा दी, और 'कालाप' व्याकरण के प्रवर्त्तक शर्ववर्म्मा को वहाँ का राज्य

दिया। शालिवाहन के सेनापतियों ने दक्षिण में शक-संवत् का अपने शासन-बल से प्रचार किया, और उत्तरीय भारत में आक्रमण और संघर्ष बराबर होते रहे। इसलिये उज्जयिनी में वे अधिक समय तक न ठहर सके। शक-क्षत्रपों ने सौराष्ट्र में अपने को दृढ़ किया, और नवीन मालव—जिसे दक्षिण मालव भी कहते हैं—शीघ्र स्वतन्त्र होने के कारण अपने पूर्व-व्यवहृत मालव-संवत का ही उपयोग करता रहा।

ऊपर के प्रमाणों से यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया है कि प्रथम विक्रमादित्य—गंधर्वसेन का पुत्र—मालव-गण का प्रमुख अधिपति रहा। उसने मथुरावाली शक-शाखा का नाश किया, और दिल्ली का उद्धार करके जैत्रपाल को वहाँ का राज्य दिया।

सं० १६९९ अगहन सुदी पंचमी की लिखी हुई 'अभिज्ञान शाकुंतल' की एक प्राचीन प्रति से, जो पं० केशव प्रसाद जी मिश्र (भदैनी, काशी) के पास है, दो स्थलों के नवीन पाठों का अवतरण यहाँ दिया जाता है—

(१) "आर्ये रसभावविशेष दीक्षागुरोः श्री विक्रमादित्य साहसाङ्कस्याभिरूप भूयिष्ठेयं परिषत् अस्यां च कालिदासप्रयुक्तेनाभिज्ञान-शाकुन्तल नाम्ना नवेन नाटकेनोपस्थातव्यमस्माभिः।"

(२) "भवतु तवविडौजाः प्राज्यवृष्टिः प्रजासु
त्वमपि वितत यज्ञो वज्रिणं भावयेथा
गण शत परिवर्तैरेवमन्योन्य कृत्यै—
र्नियतमुभयलोकानुग्रहश्लाघनीयै"

इसमें नीचे रेखा किये हुए दोनों शब्दों पर ध्यान देने से दो बातें निकली हैं। पहली यह कि जिस विक्रमादित्य का उल्लेख शाकुंतल में है, उसका नाम विक्रमादित्य है और 'साहसांक' उसकी उपाधि है। दूसरे भरत-वाक्य में 'गण'-शब्द के द्वारा इन्द्र और विक्रमादित्य के लिये यज्ञ और गण-राष्ट्र—दोनों की ओर कवि का संकेत है। इसमें राजा या सम्राट-जैसा कोई संबोधन विक्रमादित्य के लिये नही है। तब यह विचार पुष्ट होता है कि विक्रमादित्य मालव-गण-राष्ट्र का प्रमुख नायक था, न कि कोई सम्राट् या राजा। कुछ लोग जैत्रपाल को विक्रमादित्य का पुत्र बताते हैं। हो सकता है कि इसीके एकाधिपत्य से मालव-गण में फूट पड़ी हो और शालिवाहन के द्वितीय शक-आक्रमण में वे पराजित किये गये हों।

चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य मालव का अधिपति नहीं था; वह पाटलिपुत्र का विक्रमादित्य था। उसने स्त्री-वेश धारण करके किसी शक-नरपति को मार डाला था। पर पश्चिमी मालव और सौराष्ट्र उसके समय में भी अपना स्वतंत्र अस्तित्व रखते थे, क्योंकि नरवर्मा और विश्ववर्म्मा का मालव में और स्वामी रुद्रसिंह आदि तीन स्वतंत्र नरपति सौराष्ट्र के शकों का नाम मिलता है। इसके लेख आकर उदयगिरि और गोपाद्रि तक ही मिलते हैं। जैसा विक्रमादित्य का चरित है; उसके विरुद्ध इसके संबंध में कुछ गाथाएँ मिलती हैं। अपने पिता समुद्रगुप्त की विजयों के आधार पर और किसी शक-नरपति को मारकर, इसने भी पहली बार विक्रमादित्य की उपाधि धारण कर ली थी। यह असली विक्रमादित्य के बराबर अपने को समझता था।

'कथा-सरित्सागर' और 'हर्षचरित' से लिये गये अवतरणों पर ध्यान देने से यह विदित होता है कि यह शक-विजय किसी छल से मिली थी। तुआर या (शिवप्रसाद के मतानुसार पवाँर) मालव-गण के प्रमुख अधीश्वर से भिन्न यह पाटलिपुत्र का विक्रमादित्य चन्द्रगुप्त था, जिसका समय ३८५ (४००?) से प्रारंभ होकर ४१३ ई० तक था।

कुछ लोगों का मत है कि मालव का यशोधर्म्मदेव तीसरा विक्रमादित्य था; परन्तु जिस "राजतरंगिणी" से इसके विक्रमादित्य होने का प्रमाण दिया जाता है उसमें यशोधर्म के साथ 'विक्रम' शब्द का कोई उल्लेख नहीं है। उसके शिलालेखों, सिक्को में भी इसका नाम नही है। यशोधर्म के जयस्तंभ में हूण मिहिरकुल को पराजित करने का प्रमाण मिलता है, परंतु यह शकारि नहीं था। यह अनुमान भी भ्रांत है कि इसी यशोधर्मदेव ने मालव-संवत् के साथ 'विक्रम' नाम जोड़कर विक्रम-संवत् का प्रचार किया, क्योंकि उसीके अनुचरों के शिलालेख में मालव-गणस्थिति का स्पष्ट उल्लेख है—

"पंचसु शतेसु शरदा यातष्वेकान्नवति सहितेषु।
मालवगणस्थितिवशात कालज्ञानाय लिखितेषु॥"

अलबेरूनी के लेख से यह भ्रम फैला है, परन्तु वही अपनी पुस्तक मे दूसरी जगह कहरूर-युद्ध के विजेता विक्रमादित्य से संवत्-प्रचारक विक्रमादित्य को भिन्न मानकर अपनी भूल स्वीकार करता है। डाक्टर हार्नले और स्मिथ कहरूर-युद्ध के

समय में मतभेद रखते हैं। हार्नली उसे ५४४ में और स्मिथ ५२८ ई० में मानते है। कहरूर का रणक्षेत्र कई युद्धो की रंग-स्थली है, जैसा कि पिछले काल में पानीपत। शक और हूणों के आक्रमण-काल मे प्रथम विक्रमादित्य, स्कंदगुप्त और यशोधर्म्म ने वहीं विजय प्राप्त की। अलबेरूनी ने पिछले ही युद्ध का विवरण सुनकर अपने को भ्रम मे डाल दिया। जिन लोगो ने यशोधर्म्म-देव को 'विक्रमादित्य' सिद्ध करने की चेष्टा की है, वे 'राज-तरंगिणी' का नीचे लिखा हुआ अवतरण प्रमाण में देते हैं—× × × "उज्जयिन्यां श्रीमान् हर्षापराभिधः, एकच्छत्र-श्चक्रवर्ती विक्रमादित्य इत्यभूत।" इस श्लोक के 'श्रीमान् हर्ष' पर भार डालकर असंभावित अर्थ किया जाता है; पर हर्ष-विक्रमादित्य से यशोधर्म्म का क्या संबंध है, यह स्पष्ट नहीं होता। इसी हर्ष-विक्रमादित्य के लिये कहा जाता है कि उसने मातृगुप्त को काश्मीर का राज्य दिया, परंतु इतिहास में पाँचवी और छठी शताब्दी में किसी हर्ष नामक राजा के उज्जयिनी पर शासन करने का उल्लेख नहीं मिलता। बहुत दिनो के बाद ईसवी सन् ९७० के समीप मालव में श्री हर्षदेव परमार का राज्य करना मिलता है। 'राज-तरगिणी' के अनुसार उक्त हर्ष-विक्रमादित्य का काल वही है, जब काश्मीर मे गान्धार-वंश का 'तोरमान' युवराज था। तोरमान के शिलालेखों से यह सिद्ध हो जाता है कि उसके पिता तुञ्जीन वा प्रवरसेन का समकालीन स्कंदगुप्त मालव का शासक हो सकता है। तब क्या आश्चर्य है कि लेखक के प्रमाद से 'राजतरंगिणी' में हर्ष का उल्लेख हो गया हो, और शुद्ध पाठ "श्रीमान् स्कंदापराभिधः" हो; क्योंकि इसी

तोरमान ने ५०० ई० में गुप्तवंशियों से मालव ले लिया था; तब मातृगुप्तवाली घटना ५०० ई० के पहले की है। जो लोग यशोधर्म्म को विक्रमादित्य मानते हैं, वे यह भी कहते हैं कि मिहिरकुल को पराजित करने में यशोधर्म्म और नरसिंहगुप्त वालादित्य—दोनो का हाथ था। परन्तु यह भी भ्रम है। नरसिंहगुप्त ५२८ या ५४४ ई० तक जीवित ही न थे। यशोधर्म्म का समकालीन वालादित्य द्वितीय हो सकता है, जो हमारे दिये हुए वंशवृक्ष के देखने से स्पष्ट हो जायगा।

श्री काशीप्रसाद जायसवाल ने अपने विद्वत्तापूर्ण लेख में यह प्रमाणित किया है कि यशोधर्मदेव कल्कि थे। (जीवानंद-संस्करण) 'कल्किपुराण' में लिखा है—

> प्रसीद जगतांनाथ धर्मवर्म्मन रमापते ॥ अध्याय ३ ॥
> मुने किमत्र कथनं कल्किना धर्मवर्मणा ॥ अध्याय ४ ॥

तब 'राज-तरंगिणी' का यह अवतरण और भी हमारे मत को पुष्ट करता है कि यशोधर्म्मदेव से पहले विक्रमादित्य हुए थे—

> म्लेच्छोच्छेदाय वसुधां, हरेरवतरिष्यतः।
> शकान्विनाश्य येनादौ कार्य्यं भारो लघूकृतः ॥ तरंग ३ ॥

भावी कल्कि यशोधर्म्म के कार्यभार को लघु कर देनेवाले विक्रमादित्य उनसे ६० ही वर्ष पहले हुए थे, और वह थे श्री विक्रमादित्य स्कंदगुप्त। इस तरह 'राज-तरंगिणी' के "श्रीमान्

हर्षापराभिधः " के शुद्ध पाठ से " श्रीमान् स्कंदापराभिधः " की संगति भी लग जाती है।

इन तीसरे विक्रमादित्य स्कंदगुप्त के सम्बन्ध में 'कथा-सरित्-सागर' का विषमशील लम्बक सविस्तर वर्णन करता है। उज्जयिनी-नाथ (महेन्द्रादित्य) का पुत्र यह विक्रमादित्य 'म्लेच्छाक्रांते च भूलोके' उत्पन्न हुआ और इसने—

" मध्यदेशः स सौराष्ट्र स वङ्गाङ्गा च पूर्वं दिक्......
सकश्मीरान्स कौवेरी काष्टश्च करदीकृता
म्लेच्छसंघाश्च निहताः शेषाश्च स्थापिता वशे "

इतिहास में सम्राट् कुमारगुप्त की उपाधि महेन्द्रादित्य प्रसिद्ध है। इसके चाँदी के सिक्कों पर " परम भागवत महाराजाधिराज श्री कुमारगुप्त महेन्द्रादित्यः " स्पष्ट लिखा मिलता है। इसी के समय में मालव के स्वतंत्र नरेश विश्ववर्म्मा के पुत्र बंधुवर्म्मा ने अधीनता स्वीकार की। विक्रमाब्द ४८० तक, Gangdhar के शिलालेख द्वारा, मालव का स्वतंत्र रहना प्रमाणित है; परंतु ५२९ विक्रमाब्द वाले मंदसोर के शिलालेख में ४९३ वि० में कुमारगुप्त की सार्वभौम सत्ता मान ली गई। इससे प्रतीत होता है कि इसी काल में मालव गुप्त-साम्राज्य में सम्मिलित हुआ। चंद्रगुप्त द्वितीय के समय में नरवर्म्मा और विश्ववर्म्मा मालव के स्वतंत्र नरेश थे। कुछ लोगों का अनुमान है कि नर्मदा के निकटवर्ती पुष्यमित्रों ने जब गुप्त-साम्राज्य से युद्ध प्रारंभ किया था, तभी कुमार स्कंदगुप्त के नेतृत्व में गुप्त-साम्राज्य की सेना ने उज्जयिनी पर अधिकार किया। इन्हीं स्कंदगुप्त का सिक्कों में

"परम भागवत श्री विक्रमादित्य स्कन्दगुप्तः" के नाम से उल्लेख मिलता है। इनके शिलालेख से प्रकट है कि कुल-लक्ष्मी विचलित थी; म्लेच्छों और हूणों से आर्य्यावर्त्त आक्रांत था। अपनी सत्ता बनाये रखने के लिये इन्होंने पृथ्वी पर सोकर रातें बिताईं। हूणों के युद्ध में जिसके विकट पराक्रम से धरा विकंपित हुई, जिसने सौराष्ट्र के शकों का मूलोच्छेद करके पर्णदत्त को वहाँ का शासक नियत किया, वह स्कंदगुप्त ही थे। जूनागढ़ वाले लेख में इसका स्पष्ट उल्लेख है। स्कंदगुप्त की प्रशंसा में उसमें लिखा है—

"अपिच जितमिव तेन प्रथयन्ति यशांसि यस्य
रिपवोप्यामूल भग्नदर्पा निर्वचना म्लेच्छदेशेषु।"

पर्णदत्त के पुत्र चक्रपालित ने 'सुदर्शन झील' का संस्कार कराया था, उससे अनुमान होता है कि अंतिम शक-क्षत्रप रुद्रसिंह की पराजय वाली घटना ईसवी सन् ४५७ के करीब हुई थी। स्कंदगुप्त को सौराष्ट्र के शकों और तोरमाण के पूर्ववर्ती हूणों से लगातार युद्ध करना पड़ा। इधर वैमातृक भाई पुरगुप्त से आंतरिक द्वंद्व भी चल रहा था। उस समय की विचलित राजनीति को स्थिर करने के लिये प्राचीन राजधानी पाटलिपुत्र या अयोध्या से दूर एक केन्द्रस्थल में अपनी राजधानी बनाना आवश्यक था। इसलिये वर्तमान मालव की मौर्य्यकाल की अवंती नगरी को ही स्कंदगुप्त ने अपने साम्राज्य का केंद्र बनाया, और शक तथा हूणों को परास्त करके उत्तरीय भारत से हूण तथा शकों का राज्य निर्मूल कर 'विक्रमादित्य' की उपाधि धारण की।

'विक्रमादित्य'—उपाधि के लिये शकों का नाश करना एक आवश्यक कार्य्य था। पिछले काल में इसीलिये विक्रमादित्य का एक पर्य्याय 'शकारि' भी प्रचलित था, और स्कंदगुप्त के समय में सौराष्ट्र के शकों का विनाश होना चक्रपालित के शिलालेख से स्पष्ट है। परन्तु यशोधर्म्म के समय में शकों का राज्य कहीं न था, यही बात 'राजतरंगिणी' के "शकान्विनाश्य येनादौ कार्य्य-भारो लघूकृतः" से भी ध्वनित होती है। मंदसोरवाले जयस्तंभ मे यशोधर्म्म का शकों के विजय करने का उल्लेख नहीं है, हूणों के विजय का है। मंदसोर के यशोधर्म्म के विजय-स्तम्भ का भी वही समय है जो वराहदास या विष्णुवर्द्धन के शिलालेख का है। गोविद की उत्कीर्ण की हुई दोनों प्रशस्तियाँ हैं, उसका समय ५३२ ई० का है। मिहिरकुल ही भारी विदेशी शत्रु था, यह बात उक्त जयस्तंभ से प्रतीत होती है। मिहिरकुल ५३२ के पहले पराजित हो चुका था, तब वह कौन युद्ध ५४४ में हुआ, यह नहीं कहा जाता, जिसके द्वारा यशोधर्म्म के 'विक्रम' होने की घोषणा की जाती है। इसीसे हार्नली के विरुद्ध स्मिथ ने यशोधर्म्म द्वारा मिहिरकुल के पराजित होने का काल ५२८ ई० माना है, परंतु वह इस युद्ध को 'कहरूर-युद्ध' कहकर सम्बोधन नहीं करते। कहरूर-युद्ध ५४४ में नहीं हुआ, जैसा कि फर्गुसन, कीलहार्न, हार्नली आदि का मत है—प्रत्युत पहले, बहुत पहले, ४५७ ई० के समीप, दूसरी वार हो चुका है। संभवतः सौराष्ट्र के शक रुद्रसिंह और गांधार के हूण तुञ्जीन की सम्मिलित वाहिनी को कहरूर-युद्ध में पराजित कर स्कंदगुप्त ने आर्यावर्त्त की रक्षा की थी। अच्छा, जब ५२८ में

मिहिरकुल पर विजय निश्चित-सी है, तब कहरूर-युद्ध के ऊपर विक्रमादित्य को यशोधर्म्म माननेवाला सिद्धांत निर्मूल हो जाता है; क्योंकि ५३२ के विजयस्तम्भ तथा शिलालेख में मालवगण-स्थिति का उल्लेख है—विक्रम-संवत् का नहीं, और ५३२ के पहले ही यशोधर्म्म हूण-विजय करके सम्राट आदि पदवी धारण कर चुका था। फिर ५४४ के काल्पनिक युद्ध की आवश्यकता नहीं है।

'राजतरंगिणी' और सुंगयुन के वर्णन से मिलाने पर प्रतीत होता है कि हूणों का प्रधान केन्द्र गांधार था। वहीं से हूण-राजकुमार अपनी विजयिनी सेना लेकर भिन्न प्रदेशों में राज्य-स्थापन करने गये। 'राजतरंगिणी' का क्रम देखने से तीन राजाओं का नाम आता है—मेघवाहन, तुञ्जीन और तोरमाण। गांधार के मेघवाहन के समय में काश्मीर उसके शासन में हो गया था। उसके पुत्र तुञ्जीन ने काश्मीर की सूबेदारी की थी। यही तुञ्जीन प्रवरसेन के नाम से प्रसिद्ध हुआ, जिसने झेलम पर पुल बँधवाया। 'सेतुबंध' नामक प्राकृत काव्य इसीके नाम से अङ्कित है। गांधार-वंशीय हूण तुञ्जीन का समय और स्कंदगुप्त का समय एक है, क्योंकि उसके पुत्र तोरमाण का काल ५०० ई० स्मिथ ने सिद्ध किया है। संभवतः स्कंदगुप्त के द्वारा हूणों से काश्मीर-राज्य निकल जाने पर मातृगुप्त वहाँ का शासक था। यह उज्जयिनी-नाथ कुमारगुप्त महेंद्रादित्य का पुत्र स्कंदगुप्त विक्रमादित्य ही था, जिसने सौराष्ट्र आदि से शकों का और काश्मीर तथा सीमा-प्रांत से हूणों का राज्यध्वंस किया और सनातन आर्य्य-धर्म्म की रक्षा की—म्लेच्छों से आक्रांत भारत का उद्धार किया। 'भितरी' के स्तम्भ में अंकित—" जयति भुजबलाढ्यो

गुप्तवंशैकवीरः प्रथितविपुलधामा नामतः स्कंदगुप्तः। विनयबल-सुनीतै विक्रमेण क्रमेण" से स्पष्ट प्रतीत होता है कि स्कंदगुप्त विक्रमादित्य ही द्वितीय कहरूर-युद्ध का विजेता 'तृतीय विक्रम' है।

पिछले काल के स्वर्ण-सिक्कों को देखकर लोग अनुमान करते हैं कि उसीके समय में हूणों ने फिर आक्रमण किया और स्कंदगुप्त पराजित हुए। वास्तव में ऐसी बात नहीं। तोरमाण के शिलालेखों के संवत् को देखने से यह विदित होता है कि स्कंदगुप्त पहले ही निधन को प्राप्त हुए, और दुर्बल पुरगुप्त के हाथों में पड़कर तोरमाण के द्वारा गुप्त-साम्राज्य विध्वंस किया गया और गोपाद्रि तक उसके हाथ में चले गये।

———

ग्रन्थों के रचयिता कालिदास छठी शताव्दी में उत्पन्न हुए और वे यशोधर्म्मदेव के सभासद थे। इस तरह महाकवि कालिदास के संबंध में तीन सिद्धान्त प्रचलित है—

(१) ५७ ई० पूर्व मे मालव के कालिदास हुए।

(२) ईसा के चोथे शतक में चंद्रगुप्त द्वितोय मगधनरेश के समकालीन कालिदास हुए।

(३) मालव-नरेश यशोधर्म्मदेव के सभासद थे।

'श्रृंगार-तिलक' आदि ग्रन्थों के कर्त्ता कालिदास को प्रायः सब लोग इन महाकवि कालिदास से भिन्न और सबसे पीछे का—संभवतः नवम या दशम शताव्दो का—मानते हैं। हम महाकवि कालिदास के संबंध में हो विवेचन किया चाहते हैं।

मालव के प्रथम विक्रमादित्य को लोग इसलिये नहीं मानते कि उनका कहीं ऐतिहासिक उल्लेख उन लोगों को नहीं मिला, और विक्रम-संवत् प्राचोन शिला-लेखों मे मालवगण के नाम से प्रचलित है। परंतु ऊपर यह प्रमाणित किया गया है कि वास्तव मे ५७ ईसवी-पूर्व में एक विक्रमादित्य हुए। इस मत को न माननेवाले विद्वानों ने विक्रमादित्य को 'चंद्रगुप्त द्वितोय' कहकर कालिदास का समय निर्धारित करने का प्रयत्न किया है। 'रघुवंश' में जो संकेत से गुप्तवंशी सम्राटों का उल्लेख है, उसकी संगति इस प्रकार लगाई गई। परन्तु आश्चर्य्य को बात है कि चंद्रगुप्त का समय प्रमाणित करने के लिये जो अवतरण दिये गये हैं, उनमें चंद्रगुप्त का तो स्पष्ट उल्लेख नहीं है; हाँ, कुमारगुप्त और स्कंदगुप्त का उल्लेख अधिक और स्पष्ट है। यदि वे सब

संकेत भी गुप्तवंशियों के ही सम्बन्ध में मान लिये जायँ, तो यह समझ में नहीं आता कि चन्द्रगुप्त द्वितीय के समसामयिक कवि ने भावी राजाओं का वर्णन कैसे कर दिया, जब कि गुप्तवंश में उत्तराधिकार-नियम निश्चित नहीं था कि ज्येष्ठ पुत्र ही राज्य का अधिकारी हो। समुद्रगुप्त केवल अपनी योग्यता से ही युवराज हुए और चन्द्रगुप्त भी; तब 'रघुवंश' मे कुमार और उनके बाद स्कन्दगुप्त का वर्णन कैसे आया? चन्द्रगुप्त के समय गुप्त-साम्राज्य का यौवन-काल था, फिर अग्निवर्ण-जैसे राजा का चरित्र दिखाकर 'रघुवंश' का अंत करना चन्द्रगुप्त के समसामयिक और उनकी सभा के कालिदास कैसे लिख सकते हैं? वास्तव में, 'रघुवंश' की-सी दशा गुप्तवंश को हुई। अग्निवर्ण के समान ही पिछले गुप्तवंशी विलासी और हीन-वैभव हुए। तब यह मानना पड़ेगा कि गुप्तवंश का ह्रास भी कालिदास ने देखा था और तब 'रघुवंश' की रचना की थी।

ईसवी-पूर्व प्रथम शताब्दी के कालिदास के लिये भी उधर प्रमाण मिलते है। इसलिये यह समस्या उलझती जा रही है, और इसका मूल कारण है—एक ही कालिदास को काव्य और नाटकों का कर्त्ता मान लेना। हमारी सम्मति में काव्यकार कालिदास और नाट्यकार कालिदास भिन्न-भिन्न थे, और 'नलोदय' आदि के कर्त्ता कालिदास अंतिम और तीसरे थे। इस प्रकार जल्हण की 'कालिदास-त्रयी' का भी समर्थन हो जाता है और सब पक्षों के प्रमाणों की सङ्गति भी लग जाती है—यद्यपि 'शकुन्तला' और 'रघुवंश' का श्रेय एक ही कालिदास को देने का संस्कार बहुत प्राचीन है। विश्व-साहित्य के इन दो ग्रन्थ-रत्नों का कर्त्ता एक

कालिदास को न मानने से श्रद्धा बँट जाने का भय इसमें बाधक है। परन्तु पक्षपात और रूढ़ि को छोड़कर विचार करने से यह बात ठीक ही जँचेगी। हम ऊपर कह आये हैं कि कालिदास तीन हुए; परन्तु जो लोग दो ही मानते हैं, वे ही बता सकते हैं कि प्रथम कालिदास तो महाकवि हुए और उन्होंने उत्तमोत्तम नाटक तथा काव्य बना डाले, अब वह कौन-सी बची हुई कृति है जिसपर द्वितीय कवि को 'कालिदास' की उपाधि मिली? क्योंकि यह सहज ही अनुमान किया जा सकता है कि दूसरे कालिदास की उपाधि 'कालिदास' थी, न कि उसका नाम कालिदास था। जैसी प्रायः अब भी किसी वर्तमान कवि को, उसकी शैली की उत्तमता देखकर, किसी प्राचीन उत्तम कवि के नाम से संबोधित करने की प्रथा-सी है। अस्तु। हम नाटककार कालिदास को प्रथम और ईसवी-पूर्व का कालिदास मानते हैं।

(१) नाटककार कालिदास ने गुप्तवंशीय किसी राजा का संकेत से भी उल्लेख अपने नाटकों मे नही किया।

(२) 'रघुवंश' आदि में असुरों के उत्पात और उनसे देवताओं की रक्षा के वर्णन से साहित्य भरा है। नाटकों में उस तरह का विश्लेषण नहीं। काव्यकार कालिदास का समय हूणों के उत्पात और आतंक से पूर्ण था। नाटकों मे इस भाव का विकास इसलिये नही है कि वह शकों के निकल जाने पर सुख-शांति का काल है। 'मालविकाग्निमित्र' में सिंधु-तट पर विदेशी यवनों का हराया जाना मिलता है। यवनों का राज्य उस समय उत्तरीय भारत से उखड़ चुका था। 'शाकुंतल' में हस्तिना-

पुर के सम्राट् 'वनपुष्प' मालाधारिणी यवनियों से सुरक्षित दिखाई देते हैं। यह संभवतः उस प्रथा का वर्णन है जो यवन-सिल्यूकस-कन्या से चन्द्रगुप्त का परिणय होने पर मौर्य्य और उसके बाद शुंगवंश में प्रचलित रही हो। यवनियों का व्यवहार क्रीत दासी और परिचारिकाओं के रूप में राजकुल में था। यह काल ईसवी पूर्व प्रथम शताब्दी तक रहा होगा। नाटककार कालिदास 'मालविकाग्निमित्र' में राजसूय का स्मरण करने पर भी बौद्ध प्रभाव से मुक्त नहीं थे, क्योंकि 'शाकुंतल' में धीवर के मुख से कहलाया है—"पशुमारणकर्म्म दारुणोप्यनुकम्पा मृदुरेव श्रोत्रियः"—और भी—"सरस्वती श्रुतिमहती न हीयताम्"—इन शब्दों पर बौद्ध धर्म्म की छाप है। नाटककार ने अपने पूर्व-वर्ती नाटककारों के जो नाम लिए हैं, उनमें सौमिल्ल और कविपुत्र के नाट्यरत्नों का पता नहीं। भास के नाटकों को चौथी शताब्दी ईसवी पूर्व का माना गया है।

(३) नाटककार ने 'मालविकाग्निमित्र' की कथा का जिस रूप में वर्णन किया है, वह उसके समय से बहुत पुरानी नहीं जान पड़ती। शुंगवंशियों के पतन-काल में विक्रमादित्य का मालवगण-राष्ट्रपति के रूप में अभ्युदय हुआ। उसी काल में कालिदास के होने से शुंगो की चर्चा बहुत ताज़ी-सी मालूम होती है।

(४) 'जामित्र' और 'होरा' इत्यादि शब्द, जिनका प्रचार भारत में ईसा की पाँचवीं शताब्दी के समीप हुआ है, नाटक में नहीं पाये जाते। और 'शाकुंतल' की जिस प्रति का हम उल्लेख कर चुके हैं, उसमें स्पष्टरूपेण विक्रमादित्य से

गण-राष्ट्र का संबंध सांकेतिक है, और कालिदास का उस नाटक का स्वयं प्रयोग करना भी ध्वनित होता है। यह अभिनय 'साहसांक'-उपाधिधारी विक्रमादित्य-नाम के मालवगणपति की परिषद् मे हुआ था। इसलिये नाटककार कालिदास ईसवी पूर्व प्रथम शताब्दी के हैं।

(५) नाटकों की प्राकृत में मागधी-प्रचुर प्राकृत का प्रयोग है। उस प्राकृत का प्रचार भारत में सैकड़ों वर्ष पीछे हुआ था। पाँचवीं, छठी शताब्दी में महाराष्ट्रीय प्राकृत प्रारंभ हो गई थी और उस काल के ग्रंथों में उसी का व्यवहार मिलता है। 'शाकुंतल' आदि की प्राकृत में बहुत-से प्राचीन प्रयोग मिलते हैं, जिनका व्यवहार छठी शताब्दी में नहीं था।

इसलिये नाटककार कालिदास का होना, विक्रमादित्य प्रथम (मालवपति) के समय—ईसवी पूर्व प्रथम शताब्दी—में ही निर्धारित किया जा सकता है।

काव्यकार कालिदास अनुमान से पाँचवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध और छठी शताब्दी के पूर्वार्द्ध में जीवित थे। यह काश्मीर के थे, ऐसा लोगों का मत है। 'मेघदूत' मे जो अलका का वर्णन है, वह काश्मीर-वियोग का वर्णन है। यदि ये काश्मीर के न होते तो विल्हण को यह लिखने का साहस न होता—

"सहोदरा कुंकुमकेसराणां सार्धन्तनूनं कविताविलासा
न शारदादेशमपास्य दृष्टस्तेषां यदन्यत्र मया प्ररोहः"

५०० वर्ष के प्राचीन 'पराक्रम-बाहु-चरित' में इसका उल्लेख

है कि सिंहल के राजकुमार धातुसेन (कुमारदास) से कालिदास की बड़ी मित्रता थी। उसने कालिदास को वहाँ बुलाया। (महावंश के अनुसार इसका राज्यकाल ५११ से ५२४ ईसवी तक है) यह राजा स्वयं अच्छा कवि था। 'जानकी-हरण' इसका बनाया हुआ ग्रन्थ है—

"जानकीहरणं कर्त्तुं रघुवंशेस्थिते सति
कविः कुमारदासो वा रावणो वा यदिक्षमः"

सोड्ढल की बनाई हुई 'उदय-सुन्दरी-कथा' में एक श्लोक है—

"ख्यातः कृती कोपि च कालिदासः शुद्धा सुधास्वादुमती च यस्य
वाणीमिषाच्चण्ड मरीचिगोत्र सिन्धोः परंपारमवाप कीर्त्तिः।
वभूवुरन्येपि कुमारदासः इत्यादि।"

हमारा अनुमान है कि 'सिन्धोः परंपार' में कालिदास और कुमारदास के सम्बन्ध की ध्वनि है।

'ज्योतिर्विदाभरण' को बहुत-से लोग ईसवी छठी शताब्दी का बना हुआ मानते हैं; और हम भी कहते हैं कि वह ईसवी की पाँचवी शताब्दी के अंत और छठी के प्रारम्भ में होनेवाले कालिदास की कृति है। नाटककार से पीछे भिन्न एक दूसरे कालिदास के होने का, और केवल काव्यकार होने का, उसमें एक स्पष्ट प्रमाण है।

"काव्यत्रयं सुमतिकृद्रघुवंश पूर्व, पूर्व ततोननुकियच्छ्रु ति कर्म्मवादः,
ज्योतिर्विदाभरणकालविधानशास्त्रं श्रीकालिदासकवितोहि ततो वभूव"

इस श्लोक में छठी और पाँचवीं शताब्दी के ज्योतिर्विदाभरणकार कालिदास अपने को केवल काव्यत्रयी का ही कर्त्ता

मानते है, नाटकों का नाम नहीं लिया है। इस लिये यह दूसरे कालिदास—नृपसखा कालिदास या दीपशिखा कालिदास कहिये—पाँचवीं और छठी शताब्दी के कालिदास हैं। 'अस्तिकश्चिद्वाग् विशेषः' वाली किंवदन्ती भी यही सिद्ध करती है कि काव्यकार कालिदास नाटककार से भिन्न हुए। 'कालिदास' उनकी उपाधि थी, परन्तु वास्तविक नाम क्या था ?

'राजतरंगिणी' में एक 'विक्रमादित्य' का वर्णन है, जिसने प्रसन्न होकर काश्मीर देश का राज्य 'मातृगुप्त' नाम के एक कवि को दे दिया था। डाक्टर भाऊदाजी का मत है कि यह मातृगुप्त ही कालिदास है। मेरा अनुमान है कि यह मातृगुप्त कालिदास तो थे, परन्तु द्वितीय और काव्यकर्त्ता कालिदास थे। प्रवरसेन, मातृगुप्त और विक्रमादित्य—ये परस्पर समकालीन व्यक्ति छठी शताब्दी के माने जाते है।

महाराष्ट्री भाषा का काव्य 'सेतुबंध' (दह मुह बह) प्रवरसेन के लिये कालिदास ने बनाया था। ऊपर हम कह आये हैं कि मातृगुप्त का वही समय है जो काश्मीर में प्रवरसेन का है; इसका नाम 'तुंजीन' भी था। सम्भवतः इसी सभा में रहकर कालिदास ने अपनी जन्मभूमि काश्मीर में यह अपनी पहिली कृति बनाई; क्योंकि उस समय प्राकृत का प्रचार काश्मीर में अधिक था और यह वही प्राकृत है, जो उस समय समस्त भारतवर्ष मे राष्ट्रभाषा के रूप में व्यवहृत थी; इसलिये इसका नाम महाराष्ट्री था।

कुछ लोगों का विचार है कि यह काव्य कालिदास का नहीं

है, क्योंकि इसमें पहले विष्णु की स्तुति के रूप में मंगलाचरण किया गया है; परन्तु यह तर्क निस्सार है। कारण, 'रघुवंश' में भी विष्णु की स्तुति कालिदास ने की है और 'सेतुबंध' में तो स्पष्ट रूप से लिखा मिलता है कि "इअ सिरि पवर सेण विरइए कालिदास कए।" जब यह काव्य प्रवरसेन के लिये बनाया गया तो यह आवश्यक है कि उनके आराध्य विष्णु की स्तुति की जाय। प्रवरसेन ने 'जयस्वामी' नामक विष्णु की मूर्ति बनवाई थी। वस्तुतः कालिदास के लिये शिव और विष्णु में भेद नहीं था। जैसा कि हम ऊपर कह आये हैं, 'शाकुंतल' के प्राकृत से 'सेतुबंध' की प्राकृत अत्यंत अर्वाचीन है; इसलिये उसे काव्यकार कालिदास का मान लेने में कोई आपत्ति नहीं है। कालिदास के संस्कृत-काव्यों तथा इस महाराष्ट्री-काव्य में कल्पना-शैली और भाव का भी साम्य है। कुछ उदाहरण लीजिये—

वैदेहि पश्यामलयाद्विभक्तमत्सेतुनाफेनिलमम्बुराशिम्

—(रघुवंश)

दीसइ सेउ महा वह दोहाइअ पुव्व पच्छिम दिसा भाअम्

—(सेतुबंध)

+ + + +

छायापथेनेव शरत्प्रसन्नमाकाशमाविष्कृतचारुतारम्

—(रघुवंश)

मलअसुवेलालग्गो पडिट्ठिओ णहणि हम्मि सागरसलिले

—(सेतुबंध)

+ + + +

रत्नच्छाया व्यतिकर इव प्रेक्ष्यमेतत्पुरस्ताव

—(मेघदूत)

णिअअच्छाआवइअरसामलइअसाअरोअरजलद्धन्तम्

—(सेतुबंध)

ऐसा जान पड़ता है कि किसी कारण से प्रवरसेन और मातृगुप्त (कालिदास) में अनबन हो गई, और उसे राजसभा तथा काश्मीर को छोड़कर मालव आना पड़ा। शास्त्री महोदय के उस मत का निराकरण किया जा चुका है कि यशोधर्म्मदेव 'विक्रमादित्य' नहीं थे। फिर संभवतः इन्हें स्कंदगुप्त विक्रमादित्य का ही आश्रित मानना पड़ेगा, क्योंकि तुंजीन और तोरमाण के समय में काश्मीर आपस के विग्रह के कारण अरक्षित था। उज्जयिनी के विक्रमादित्य के लिये यह मिलता भी है कि उसने "सकाश्मीरान्सकौवेरीकाष्ठाश्चकरदीकृता"। यह स्कंदगुप्त विक्रमादित्य की ही वदान्यता थी कि काश्मीर-विजय करके उसे मातृगुप्त को दान कर दिया।

चीनी यात्री हुएन्त्सांग ने लिखा है कि कुमारगुप्त की सभा मे दिङ्नाग के दादागुरु 'मनोरथ' को हराने में कालिदास की प्रतिभा ने काम किया था। कुमारगुप्त का समय ४५५ ई० तक है। किशोर मातृगुप्त ने कुमारगुप्त के समय में ही विद्या का परिचय दिया। मनोरथ के शिष्य वसुबंधु, और उनका शिष्य दिङ्नाग था, जिसने कालिदास के काव्यों की कड़ी आलोचना की थी। संभवतः उसीका प्रतिकार "दिङ्नागानां पथिपरिहरन् स्थूलहस्तावलेपान्" से किया गया है; क्योंकि प्राचीन टीकाकार

मल्लिनाथ भी इसको मानते हैं। दिङ्नाग का गुरु वसुबंधु अयोध्या के विक्रमादित्य का सुहृद था। बौद्ध विद्वान् 'परमार्थ' ने उसको जीवनी लिखी है। इधर वामन ने काव्यालंकारसूत्रवृत्ति के अधिकरण ३, अध्याय २ मे साभिप्रायत्व का उदाहरण देते हुए एक श्लोकार्द्ध उद्धृत किया है—

"सोऽयं सम्प्रति चन्द्रगुप्ततनयश्चद्रप्रकाशो युवा
जातो भूपतिराश्रयः कृतधियां दिष्ट्या कृतार्थश्रमः"

"आश्रयः कृतधियामित्यस्य वसुबंधु
साचिव्योपक्षेप परत्वात्साभिप्रायत्वम्"

यह अयोध्या के विक्रमादित्य चन्द्रगुप्त * का तनय चन्द्रप्रकाश युवा कुमारगुप्त हो सकता है। वसुबंधु के गुरु मनोरथ का अन्त और उसका सभा में पराजित होना स्वयं बौद्धों ने कालिदास के द्वारा माना है। इसी द्वेष से दिङ्नाग कालिदास का प्रतिद्वन्द्वी

* विक्रमादित्यइत्यासीद्राणापाटलिपुत्रके (कथासरित्सागर)

यह द्वितीय चंद्रगुप्त विक्रमादित्य के लिये आया है। बौद्धों ने अयोध्या में इसकी राजधानी लिखा है। संभवतः मगध की साम्राज्य-सोमा बढ़ने पर अयोध्या में सम्राट कुछ दिनों के लिये रहने लगे हों। परन्तु उज्जयिनी में इसका शासन होना किसी भी लेखक ने नहीं लिखा है। इसके पुत्र कुमारगुप्त ने 'महोदय' को विशेष आदर दिया, क्योंकि साम्राज्य धीरे-धीरे उत्तर-पश्चिम की ओर बढ़ रहा था। वस्तुतः उस समय राज्य की उत्तरोत्तर वृद्धि के साथ गुप्त-सम्राट लोग कुसुमपुर की प्रधानता रखते हुए सुविधानुसार अपने रहने का स्थान बदलते रहे हैं, क्योंकि उन्हें सैनिक केन्द्रों का बराबर परिवर्त्तन करना पड़ता था।

बना। अब यह मान लेने में कोई भ्रम नहीं होता कि मातृगुप्त किशोरावस्था में कुमारगुप्त की सभा में था, वही कालिदास स्कंदगुप्त विक्रमादित्य के सहचर थे। कुमारगुप्त का नामाङ्कित एक काव्य भी (कुमारसंभव) बनाया। यह बात तो अब बहुत-से विद्वान मानने लगे हैं कि कालिदास के काव्यों में गुप्तवंश का व्यञ्जना से वर्णन है। हूणों के उत्पात और उनसे रक्षा करने के वर्णन का पूर्ण आभास कुमारसंभव में है।

स्कंदगुप्त के भितरीवाले शिलालेख में एक स्थान पर उल्लेख है—

" क्षितितलशयनीये येन नीता त्रियामा "

तो 'रघुवंश' में भी—

" सललितकुसुमप्रवालशय्यां, ज्वलितमहौषधिदीपिकासनाथाम्।
नरपतिरतिवाहयां बभूव क्वचिद समेतपरिच्छद त्रियामाम् "—

मिलता है। स्कंदगुप्त के शिला-लेखों में जो पद्य-रचना है, वह वैसी ही प्राञ्जल है जैसी रघुवंश की—" व्यपेत्य सर्वान् मनुजेन्द्रपुत्रान् लक्ष्मीः स्वयं यं वरयां चकार "—इत्यादि में रघुवंश की-सी ही शैली दीख पड़ती है। " स्कन्देनसाक्षादिव देवसेनाम् " —इत्यादि में स्कंदगुप्त का स्पष्ट उल्लेख भी है। और कुमारगुप्त का तो बहुत उल्लेख है। रघुवंश के ५, ६, ७ सर्ग में तो अज के लिये ' कुमार ' शब्द का प्रयोग कम-से-कम ११ बार है।

विक्रमादित्य के जीवन के संबंध में यह प्रसिद्धि है कि उनका अंतिम जीवन पराजय और दुःखों से भी संबंध रखता है।

वस्तुतः चन्द्रगुप्त के जीवन-काल में साम्राज्य की वृद्धि के अतिरिक्त उसका ह्रास नहीं हुआ। यह स्कंदगुप्त के समय में ही हुआ कि उसे अनेक षड्यन्त्र और विपत्ति तथा कष्टों का सामना करना पड़ा। जिस समय पुरगुप्त के अन्तर्विद्रोह से मगध और अयोध्या छोड़कर स्कंदगुप्त विक्रमादित्य ने उज्जयिनी को अपनी राजधानी बनाई, और साम्राज्य का नया संगठन हो रहा था, उसी समय मातृगुप्त को काश्मीर का शासक नियत किया गया। यह समय ईसवी सन् ४५० से ५०० के बीच पड़ता है। ४६७ ई० में स्कंदगुप्त विक्रमादित्य का अन्त हुआ। उसी समय मातृगुप्त (कालिदास) ने काश्मीर का राज्य स्वयं छोड़ दिया और काशी चले आये। अब बहुत-से लोग इस बात की शंका करेंगे कि कहाँ उज्जयिनी, कहाँ मगध, कहाँ काश्मीर, फिर काशी, और सबके बाद सिंहल जाना—यह बड़ा दूरान्वय संबंध है। परन्तु उस काल में सिंहल और भारत में बड़ा संबंध था। महाराज समुद्रगुप्त के समय में सिंहल के राजा मेघवर्ण ने उपहार भेज कर बोध-गया में एक विहार बनाने की प्रार्थना की थी; महावंश और समुद्रगुप्त के लेख में इसका संकेत है और महाबोधि-विहार सिंहल के राजकुल की कीर्ति है। तब से सिंहल के राजकुमार और राजकुल के भिक्षु इस विहार में बराबर आते रहते थे। बोधगया से लाया हुआ पटना-म्यूज़ियम में एक शिलालेख है—(नं० ११३); यह प्रमाण प्रख्यातकीर्त्ति का है—"लङ्काद्वीपनरेन्द्राणां श्रमणः कुलजोभवत्। प्रख्यातकीर्त्ति-धर्मात्मा स्वकुलाम्बरचन्द्रमा।" महानामन के शिलालेख से भी इसकी पुष्टि होती है—

२७

" संयुक्तागमिनो विशुद्धरजसः सत्वानुकम्पोद्यता
शिष्यायस्य सकृद्विचेरुरतुलांलङ्काचतोपत्यकां
तेभ्यः शीलगुणान्वितश्च शतशः शिष्याः प्रशिष्याः क्रमात्
जातास्तुंगनरेंद्रवंशतिलकाः प्रोत्सृज्य राज्यश्रियम् "

जब राजकुल के श्रमण और राजपुत्र लोग यहाँ तीर्थयात्रा के लिये बराबर आते थे, और संस्कृत-कविता का प्रचार भी रहा हो, तब उस काल के सर्वोच्च कवि की मैत्री की इच्छा भी होना स्वाभाविक है। और उस नष्टाश्रय महाकवि के साथ मैत्री करने में अपने को धन्य समझनेवाले कुमारदास की कथा में अविश्वास का कारण नहीं है। यदि स्कंदगुप्त विक्रमादित्य के मरने पर दुखी होकर राजमित्र के पास सिंहल जाना इनका ठीक है, तो यह कहना होगा कि 'मेघदूत' उसी समय का काव्य है और देवगिरि की स्कंदराज प्रतिमा उनकी आँखों से देखी हुई थी, जिसका वर्णन उन्होंने " देवपूर्वं गिरिं ते— " वाले श्लोक में किया है।

यदि ५२४ ई० तक कालिदास का जीवित रहना ठीक है तो उन्होंने गुप्तवंश का ह्रास भी भली भाँति देख लिया अथवा सुना होगा। रघुवंश में वैसा ही अंतिम पतन-पूर्ण वर्णन भी है।

कुमारदास का सिंहल का राजा उसी काल में होना, और सिंहल मे कालिदास के जाने की रूढ़ि उस देश में माना जाना, उधर चीनी यात्री द्वारा वर्णित कालिदास का मनोरथ को हटाना, दिङ्नाग और कालिदास का द्वन्द्व, विक्रमादित्य और मातृगुप्त की कथा का 'राजतरंगिणी' में उसी काल का उल्लेख, हूण-राजकुल में 'सुंगयून' के अनुसार विग्रह, काश्मीर-युद्ध की देखी हुई घटना—

ये सब बातें आकर एक सूत्र में ऐसी मिल जाती हैं कि दूसरे काव्यकार कालिदास को विक्रम-सखा, दीपशिखा कालिदास को मातृगुप्त मानने में कुछ भी संकोच नहीं होता—जैसा डाक्टर भाऊदाजी का मत है।

विक्रमाङ्क के समान भोज के पिता सिन्धुराज की पदवी 'साहसाङ्क' थी। पद्मगुप्त परिमल ने 'नव-साहसाङ्क-चरित' बनाया था। तञ्जौर वाली 'साहसाङ्क-चरित' की प्रति मे इनको भी कालिदास लिखा है। बहुत संभव है कि यह तीसरे कालिदास बङ्गाल के हों, जैसा कि बंगाली लोग मानते हैं। ऋतु-संहार, पुष्पबाण-विलास, शृंगार-तिलक और अश्वघाटी आदि काव्यों के रचयिता संभवतः यही तीसरे कालिदास हो सकते है।

× × × ×

हमें इस नाटक के सम्बन्ध में भी कुछ कहना है। इसकी रचना के आधार में ऊपर दो मन्तव्य स्थिर किये गये हैं; पहला यह कि उज्जयिनी का परदुःखभंजन विक्रमादित्य गुप्तवंशीय स्कंदगुप्त था; दूसरा यह कि मातृगुप्त ही दूसरा कालिदास था, जिसने 'रघुवंश' आदि काव्य बनाये।

स्कंदगुप्त का विक्रमादित्य होना तो प्रत्यक्ष प्रमाणो से सिद्ध होता है। क्षिप्रा से तुम्बी मे जल भरकर ले आनेवाले, और चटाई पर सोनेवाले उज्जयिनी के विक्रमादित्य स्कंदगुप्त के ही साम्राज्य के खँड़हर पर भोज के परमार-पुरखों ने मालव का नवीन साम्राज्य बनाया था। परन्तु मातृगुप्त के कालिदास होने में अनुमान का विशेष सम्बन्ध है। हो सकता है कि आगे चलकर

कोई प्रत्यक्ष प्रमाण भी मिल जाय, परन्तु हमें उसके लिये कोई आग्रह नहीं। इसलिये हमने नाटक में मातृगुप्त का ही प्रयोग किया है। मातृगुप्त का काश्मीर का शासन और तोरमाण का समय तो निश्चित-सा है। विक्रमादित्य के मरने पर उसका काश्मीर-राज्य छोड़ देता है, और वही समय सिंहल के कुमार धातुसेन का निर्धारित होता है। इसलिये इस नाटक में धातुसेन भी एक पात्र है। बंधुवर्म्मा, चक्रपालित, पर्णदत्त, शर्व-नाग, भटार्क, पृथ्वीसेन, खिंगिल, प्रख्यातकीर्त्ति, भीमवर्म्मा (इसका शिलालेख कोशाम्बी से मिला है), गोविन्दगुप्त, आदि सब ऐतिहासिक व्यक्ति हैं। इसमें प्रपंचबुद्धि और मुद्गल कल्पित पात्र हैं। स्त्रीपात्रों में स्कंद की जननी का नाम मैंने देवकी रक्खा है; स्कंदगुप्त के एक शिलालेख मे—"हतरिपुरिव कृष्णो देवकीमभ्युपेतः" मिलता है। सम्भव है कि स्कंद की माता के नाम देवकी ही से कवि को यह उपमा सूझी हो। अनन्तदेवी का तो स्पष्ट उल्लेख पुरगुप्त की माता के रूप मे मिलता है। यही पुर-गुप्त स्कंदगुप्त के बाद शासक हुआ है। देवसेना और जयमाला वास्तविक और काल्पनिक पात्र, दोनो हो सकते हैं। विजया, कमला, रामा और मालिनी-जैसी किसी दूसरी नामधारिणी स्त्री की भी उस काल मे सम्भावना है। तब भी ये कल्पित हैं। पात्रो की ऐतिहासिकता के विरुद्ध चरित्र की सृष्टि, जहाँ तक संभव हो सका है, न होने दी गई है। फिर भी कल्पना का अव-लम्ब लेना ही पड़ा है, केवल घटना की परम्परा ठीक करने के लिये।

—'प्रसाद'